पथराये नेत्र

उपन्यासकार
सिद्ध विनायक द्विवेदी

भाग २

१९५८
साहित्य प्रकाशन, दिल्ली

(२)

धारा नगरी के एकान्त राज-प्रासाद में विजयश्रवा अपने विश्वस्त सामन्तों एवं नगर के गण्य मान्य प्रतिष्ठित नागरिकों के साथ बैठा हुआ सम्राट के आने की प्रतीक्षा कर रहा था। बड़े-बड़े सामन्तों के मुख पर स्पष्ट ही चिन्ता की रेखाएँ उभर कर उनके मन में उठने वाले अनेक सङ्कल्प-विकल्पों की सूचना दे रही थीं। बड़े-बड़े दीप स्तम्भ सम्पूर्ण राज-सभा भवन में चारों ओर अपना निर्मल प्रकाश फैला रहे थे। प्रवेश द्वार पर प्रतिहारी, सैनिक एवं भृत्य वर्ग कर-बद्ध शांत खड़े थे। सबकी जिह्वाएं मुख के भीतर बन्दिनी सी चुपचाप थीं। कोई किसी से कुछ भी न बोलता था।

बीच राज सभा में एक सुवर्ण एवं रत्नजड़ित चौकी पर, मणि-माणिक से जड़ी हुई मूल्यवान नग्न तलवारें रखी हुई चमक रही थीं जिनकी मूठ पर मखमल सिल्क एवं चिकन की जड़ावदार झालरें लटक रही थीं। वहीं पर एक थाल में सुवर्ण-पत्र से आवेष्टित ताम्बूल तथा दूसरी थाल में रक्ताभ कुंकुम चमक रही थी। सभा भवन किसी गहन गंभीरता से मौन किन्तु विचार-पूर्ण गोपनीय वार्ताओं की प्रतीक्षा में शून्य सा लग रहा था। कोई किसी से एक शब्द भी न बोल सकता था। मृत्यु जैसी शून्यता सम्पूर्ण राजसभा में व्याप्त थी।

साधारण सामन्तों के बैठने के स्थान से कुछ ऊँचाई में

एक सुवर्ण-रत्नजड़ित मंच पर गद्दी मसनद एवं काश्मीरी कालीन बिछी हुई थी जिस पर युवराज विजयश्रवा आसीन था और युवराज के आसन से कुछ दूर पर सम्राट द्युमत्सेन का राज-सिंहासन प्रतिष्ठित था जो परिपूर्ण रूप से सजाया गया था। सब लोग किसी कार्यवाही के प्रारम्भ करने के पूर्व उस सूने राज-सिंहासन पर सम्राट को आसीन देखना चाहते थे अस्तु वे सब सम्राट की प्रतीक्षा कर रहे थे।

युवराज के आसन के बाएँ पार्श्व पर—उन्हीं के आसन के बराबर दो छोटे-छोटे मंच और सजाये गये थे जो सम्भवत: दौत्य सम्बन्ध स्थापित रखने वाले किन्हीं अन्य सम्राटों के राजदूतों के लिए थे। वे दोनों आसन भी अब तक नहीं भरे थे—शायद सम्पूर्ण राजसभा समाट के साथ ही उन राजदूतों की भी प्रतीक्षा कर रही थी।

सहसा प्रतिहारी ने प्रवेश किया और उसने युवराज तथा सम्पूर्ण राजसभा को सम्राट के पधारने की सूचना दी। बन्दीजन विरुदावली का गान करने लगे नकीब देने वाले भृत्य सम्राट के पीछे-पीछे उनके परम्परागत धवल-यशों का उच्च स्वरों में घोष करते हुए राजसभा में आ पहुँचे। सम्राट को समादर प्रदान करने के लिए सारी राजसभा उठ खड़ी हुई। सम्राट के साथ-साथ आदरणीय साम्राज्ञी भी उस दिन की राजसभा में जा उपस्थित हुई थीं। उनके साथ विशेष आमंत्रित धारा नगरी की प्रतिष्ठित माताएँ, कुल वधुएँ, राजकुमारी चन्द्रहासिनी एवं भुवन मोहिनी आदि भी उपस्थित थीं। सब लोगों ने अपने-अपने यथायोग्य आसन पर अपने को

प्रतिष्ठित किया। सारी राजसभा पुनः पूर्ववत् शून्य हो गई।

उस दिन के राज-सभा की कार्यवाही युवराज विजयश्रवा को ही प्रारम्भ करनी थी। सम्राट के राज सिंहासनासीन होते ही युवराज ने उन दो पत्रों को सम्राट के सम्मुख उपस्थित किया जो कि हूणों द्वारा सम्राट को भेजा गया था जिसमें हूणों के प्रमुख सैनिक अधिनायक ने चाहा था कि "या तो भारतीय सम्राट प्रत्येक सैनिक पदाधिकारी के लिए सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी प्रदान करें और एकत्रित राजकोष का दो तिहाई धन एवं राजकीय परिवार की सर्वश्रेष्ठ राजकुमारी जो अनिन्द्य सुन्दरी हो और जो सौन्दर्य प्रतियोगिता में द्वीप-द्वीपान्तरों की राजकुमारियों से अपराजिता सिद्ध हो, उस सैनिक अधिनायक को समर्पित करें और साथ ही पराजय को स्वीकार कर हूणों के सैनिक अधिनायक को प्रतिवर्ष साम्राज्य की आय का आधा भाग प्रदान करते जायँ तब तो रक्त सागर भरने वाला महान् युद्ध टाला जा सकेगा, अन्यथा देश की भूमि में ऐसा भयंकर युद्ध होगा जिसमें भारतीय परम्परागत वैभव की होली जलाई जावेगी, भारतीय सुन्दरियाँ बलात् लूट ली जावेंगी और सर्वनाश का ताण्डव नृत्य देश के कोने-कोने में दिखलाई पड़ेगा।

वे दोनों पत्र लाने वाले हूण अधिनायक के सैनिक राजदूत भी उस राजसभा में उपस्थित थे। कहना नहीं होगा कि उक्त दोनों पत्रों को पढ़ते-पढ़ते स्वयं राजकुमार विजयश्रवा के नेत्रों में क्रोधाग्नि के अग्नि-स्फुलिंग चमक उठे। उसकी भुजाएँ फड़क उठीं, होष्ठ-पट काँपने लगे। वह सम्राट से कुछ

कहने जाकर भी साहस पूर्वक कुछ क्षणों तक अपने को रोके रहा ।

इस महान् अपमान जनक पत्र को सारी राजसभा ने उग्र क्रोधाग्नि को दबाये हुए सुना फिर भी उनके हृदयों में तीव्र प्रतिहिंसा की आग दहकने लगी—वीरों ने अपनी मूछों पर ताव दिया और उनके हाथ स्वाभाविक रूप से अपनी-अपनी तलवारों की मूठों पर दृढ़ता से जा पड़े । वे सम्राट की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे ।

वयोवृद्ध सम्राट ने एक बार उन पत्र वाहक राजदूतों की ओर घृणा और क्रोध से देखा । अब भी सम्राट की सूखी नसों में भारतीय वीरता की गौरवमयी रक्त-धारा का संचरण हो रहा था । स्वाभिमान से सम्राट का मस्तक ऊँचा हो उठा । एक बार उनके सम्पूर्ण शरीर में क्रोध की कंपकंपी उत्पन्न हुई फिर भी सम्राट ने अति तीक्ष्ण दृष्टि से अपने उन महान् सेनानियों और वीरों के मुखों की ओर देखा जो अतीत काल में—जबकि तरुणाई का रक्त उनकी प्रबल वेगमयी नसों में गौरव के साथ बहा करता था—सम्राट के साथ-साथ अनेक हिंसक युद्धों में विजय श्री संवरण कर लौटे थे । सम्राट को ज्ञात हुआ जैसे उन वीर-सिंहों के नेत्र कह रहे थे—"शत्रु के इन अपमान भरे पत्रों को पैरों से कुचलने की शुभाज्ञा प्रदान की जावे ।"

तत्पश्चात् सम्राट की दृष्टि अपने महान् वीर उत्तराधिकारी के मुखड़े पर जा डटी, जिसके नेतृत्व में भावी युद्ध लड़ा जाने वाला था और जो काँपते हुए हाथों में उन घृणा-

स्पद पत्रों को लिये हुए केवल सम्राट की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा था। सम्राट ने देखा कि विजयश्रवा का गौरंग वर्ण क्रोधाग्नि की प्रबल लपटों के कारण रक्ताभ हो उठा है, उसके मुख की श्री स्वयं अग्नि की लोहित लपटों सी देदीप्यमान है मानों स्वयं साकार वीरता सम्राट की दृष्टि के समक्ष खड़ी हुई कह रही है कि "सम्राट! शीघ्र युद्ध के बिगुल फूँकने का आदेश दें। इस अपमान भरे पत्र ने हमारे राष्ट्रीय सम्मान को चुनौती दी है। हमारे हृदय शत्रु के रक्त से होली खेलने के लिए उतावले हैं। हमारे हाथ उन पामर प्राणियों के मस्तक काटकर अपने पैरों की ठोकर से कुचलेंगे।"

सम्राट ने समस्त सभासदों और वीर प्रसवनी महिलाओं की ओर देखा और पुन: घटाटोप बारिद मालाओं जैसी गंभीर वाणी में बोले :—

"महिलाओं और समस्त सभासदो।" "मेरे चिरंजीव युवराज ने शत्रु के दोनों पत्रों के प्रत्येक अक्षर को आप लोगों के समक्ष बड़े साहस पूर्वक पढ़कर सुनाया। आप सब लोगों ने जाना कि सन्धि की शर्तें भारतीय गौरव परम्परा के विपरीत हैं और यदि युद्ध को स्वीकार किया जावे तो महान् सर्वनाश को स्वीकार करना पड़ेगा।"

"आज राष्ट्रीय स्थिति यह है कि समस्त देश बौद्ध मत्तावलम्बी एवं अहिंसा का समर्थक है। एक प्रकार से राष्ट्रीय धर्म ने युद्ध का निषेध किया है। अधिकांश भारतीय नरेश अहिंसा धर्म द्वारा दीक्षित हैं जो रक्त से सने हुए युद्ध के विपरीत अपना समर्थन प्रदान करेंगे।"

शत्रु ने जो शर्तें सन्धि के लिए प्रस्तुत की हैं, वह मुझ जैसे युद्ध-प्रिय क्षत्रिय नरेश की विचार-धाराओं के सर्वथा विपरीत हैं। मेरे लिए आत्मसमर्पण महान् निन्दनीय एवं कायरतापूर्ण है। मैं कायरता को स्वीकार करने से कहीं अधिक रक्त सागर में निमग्न होना अधिक पसन्द करता हूं। मैं अहिंसा का सम्मान करते हुए भी, माताओं बहिनों एवं बेटियों की लज्जा को निर्लज्ज बनकर शत्रु को नहीं समर्पित करना चाहता, भले ही मुझे हिंसक युद्ध द्वारा रक्त सागर उद्वेलित करना पड़े। वीर प्रसवनी भारत वसुन्धरा वीराङ्गनाओं के अपमान को सहन करने में असमर्थ है। अस्तु मेरा प्रबल समर्थन युद्ध के पक्ष में है। फिर भी मैं अपना निर्णय अभी नहीं लादना चाहता। समस्त सभासद आपस में निर्णय करके मुझे यह बतलावें कि वे सन्धि चाहते हैं अथवा युद्ध ?"

सम्राट इतना कहकर मौन हो गये। युवराज उसी क्रोध पूर्ण प्रबल मनोभावों को रोके हुए क्षण भर के लिए अपने स्थान पर बैठ गया।

समाट द्युमत्सेन के महा आमात्य ऋषभदेव उठकर खड़े हुए और वे प्रत्येक सभासद के स्थान पर जाकर गुप्त रूप से राष्ट्र भर के नरेशों के पत्रों को दिखलाकर यह बताने की चेष्टा करने लगे कि अधिकांश नरेश युद्ध के समर्थक नहीं हैं। उन नरेशों ने हूण आक्रमण के आशङ्का समय ही अपने विचार युद्ध के विपरीत प्रकट करते हुए सम्राट से प्रार्थना की थी कि शत्रु को ले-देकर सन्धि करने का प्रयास किया जाय।

उपस्थित लोगों में से कुछेक वयोवृद्ध सामन्तों के अति-

रिक्त—जो कि सर्वदा सम्राट के समर्थक रहे, और कुछेक युवक क्षत्रिय सामन्त—जो सर्वदा युवराज विजयश्रवा के पक्ष का समर्थन करते थे, अधिकांश खण्ड राज्यों के उपस्थित नरेशों एवं अहिंसावादी सामन्तों ने युद्ध के विपरीत अपना मत प्रदान किया। एक प्रकार से उपस्थित राजसभा के सदस्यों में उन्हीं लोगों का बहुमत था जो अहिंसावादी होते हुए युद्ध के विरुद्ध थे।

महाअमात्य ऋषभदेव ने सम्पूर्ण राजसभा के सदस्यों का प्रबल बहुमत युद्ध के विपरीत जानकर उस शून्यता से परिपूर्ण राज सभा में—अति विनीत शब्दों द्वारा सम्राट से निवेदन किया कि सम्माननीय सदस्य युद्ध के विरुद्ध हैं। वे राष्ट्र भर को रक्त सागर में निमग्न करने से कहीं अधिक श्रेयस्कर यह समझते हैं कि हूणों के द्वारा मांग किये गये धन का जो भाग राजकोष से दिया जा सके, दिया जावे और जो भाग देने के लिए बच रहे—उसे अधिकांश नरेश मिलकर अपने-अपने राजकोष से पूरा कर दें।"

"बाकी बचीं कुछ सहस्त्र सुन्दरियाँ जो हूण सैनिक अधिकारियों को प्रदान की जाने वाली हैं उन्हें भी प्रत्येक नरेश राजकीय-धन-दान के अनुपात से एकत्रित कराकर सम्राट को सौंप दें।"

"हूण अधिनायक को सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के रूप में महाराज आदित्यसेन जो इन्द्रप्रस्थ के नरेश हैं, अपनी राजकन्या चन्द्रहासिनी का विवाह कर दें। संभवतः चन्द्रहासिनी सौन्दर्य प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होगी।"

इस प्रकार राष्ट्र के अपार जन-धन का सर्वनाश रोका जा सकेगा—अन्यथा प्रस्तावित धन-दान, कुछ सहमत सहस्त्र सुन्दरियाँ, एवं चन्द्रहासिनी का विशेष दान उस सर्वनाश का एक साधारण भाग भी न होगा, जो युद्ध की विभीषिका एवं सर्वनाश के पश्चात् राष्ट्र को स्वीकार करना पड़ेगा।

संभवत: महा आमात्य ऋषभदेव को यह ज्ञात था भी, या नहीं कि राजकुमारी चन्द्रहासिनी स्वयं युवराज विजयश्रवा की प्रणयिनी हैं और कुछ समय पश्चात् वे सम्राट एवं साम्राज्ञी की पुत्र वधू बनेंगी। हाँ, ऋषभदेव को यह अवश्य ज्ञात था कि राजकुमारी चन्द्रहासिनी स्वयं युवराज का आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करने धारा नगरी पधारी हैं।

महा आमात्य ने ज्यों ही राजसभा में खड़े होकर, राज सभा के सदस्यों का बहुमत से स्वीकार किया गया उपरोक्त निर्णय सुनाया, त्योंही हूणों के सैनिक राजदूतों के मुख पर प्रसन्नता की रेखाएँ उभर उठीं किन्तु बाकी राज-सभा में एक प्रकार से मृत्यु की सी शान्ति तथा मुर्दनी छा गयी। वृद्ध सम्राट के नेत्रों के सामने क्षण भर के लिए अँधेरा छा गया। और उनका मुख पीला पड़ गया जैसे उन्हें किसी ने विवश करके वज्र का प्रहार किया हो। ज्ञात होने लगा जैसे वे इस कायरतापूर्ण बहुमत के निर्णय को सुनकर हतप्रभ, अवाक् एवं अचेत हो गये हों। उनके नेत्र मृत्यु की सी अंधियारी से मानो बन्द हो गये। महा आमात्य ने मानो उनके कर्ण कुहरों में सुवर्ण पिघला कर डाल दिया हो और उनके श्रवण करने की शक्ति सर्वदा के लिए विनष्ट हो गयी हो।

सम्राट द्युमत्सेन इस अप्रत्याशित आघात से जिस प्रकार शिथिल पड़ गये, उसे देखकर हूणों के सैनिक राजदूत किसी स्वर्णिम आशा से मन ही मन स्वर्गीय भोग को प्राप्त कर बैठे किन्तु युवराज पर क्या प्रतिक्रिया हुई, सम्भवतः अभी तक किसी का ध्यान उस भयानक भावना की ओर गया ही न था।

राजकुमारी चन्द्रहासिनी इस निर्णय को सुनकर काँप उठी। उसने भय विह्वल नेत्रों से चकित हिरणी की भाँति, जो किसी बधिक बहेलिये के मायावी पाश में आबद्ध होकर, मृत्योन्मुखी दृष्टि से अपने जीवन को बचाने के लिए, सदय दृष्टि द्वारा किसी रक्षक की प्रतीक्षा में भयभीता सी देख रही हो, विजयश्रवा को देखने लगी। ज्यों ही चन्द्रहासिनी की दृष्टि से विजयश्रवा की दृष्टि चार हुई, वह स्वयं बिजली सा कौंध उठा। प्रलयङ्कर रुद्र का कोप उसकी मधुमय दृष्टि में विकराल वेप धारण कर नाचने लगा।

उन हूणों के सैनिक राजदूत विजयश्रवा के मुख की संहारिणी भावना को देखकर काँप उठे। साम्राज्ञी के दृष्टि की तरेर बड़े-बड़े कायरों के हृदयों में बिजली कौंधने लगी। भुवनमोहिनी न तो कम्पित हुई और न भय ग्रसा ही। एकबार विजयश्रवा के तमतमाये—वीर दर्प से भरे मुखड़े को देखकर किसी कृत-सङ्कल्प के भावावेष में उठी और बिना किसी से एक भी शब्द बोले, उस ओर बढ़ी, जहाँ सुवर्ण रत्न जड़ित चौकियों पर चमकती हुई नग्न तलवारें रखी थीं।

हूणों के सैनिक राजदूत इस अनिन्द्य सुन्दरी के अद्वितीय

स्वरूप को लुब्ध मधुप से ठगे हुए देखते रहे। किसी को किसी से कुछ कहने का साहस नहीं हुआ।

भुवन मोहिनी ने जैसे सारी राजसभा को किसी दैवी माया के प्रच्छन्न आवरण में अचेतन कर डाला हो। सब लोग चित्र लिखे से उस मायावी सुन्दरी नारी को देखते रह गये। वह मृत्यु दूती-सी झपट कर सभा स्थल के मध्य भाग में जा पहुँची। उसने सम्राट को मस्तक झुकाकर अभिवादन किया और बिजली की कड़क सी उछल कर नग्न तलवार को अपनी कोमल कलाइयों में थाम लिया।

सारी राजसभा यह न समझ सकी कि अदृश्य के विधान द्वारा किसी महान् कर्म का सूत्रपात उस नारी के द्वारा होने जा रहा है जिसे आज तक रूपवती पतिता के रूप में सभी लोग जानते आये थे।

कमल दल की भाँति चूँड़ियों से सजे हुए कोमल गोरे कर-पल्लवों में चमकती हुई असि-धारा ने वीरों की सुप्त वीर भावना को जागृत कर दिया।

बिजली के कौंध सी भुवन मोहिनी क्षण भर के लिए दिखाई पड़ी किन्तु दूसरे ही क्षण सारी राजसभा ने देखा कि महा-आमात्य ऋषभदेव का सिर भूमि पर गिरा पड़ा हुआ तड़प रहा है—एक ओर धड़ है—दूसरी ओर सिर और महा आमात्य ऋषभदेव क्षण भर पश्चात् ही कीड़े-मकोड़ों जैसी तुच्छ मृत्यु प्राप्त कर राष्ट्र की विराङ्गनाओं को अपमानित करने वाले प्रस्ताव के उपस्थित करने का दण्ड भोग रहे हैं।

मानों सारी राजसभा का सुप्त क्षत्रित्व जाग उठा।

सम्राट ने एक निर्वासित की जाने वाली महिला के हृदय में राष्ट्र की वीरता का दर्शन किया। उनका सुप्त एवं अचेतन हृदय जो क्षण भर पूर्व महा-आमात्य ऋषभदेव के कायरता पूर्ण प्रस्ताव से हत प्रभ हो चुका था—महान् कर्तव्य एवं दायित्व के ओज को लेकर जाग उठा।

वीरों के कंठ से भुवन मोहिनी के जयनादों के तुमुल घोष नभ-मण्डल पर छा गये। सम्राट अपने राज सिंहासन से उठ कर उस वीराङ्गना के समीप जा खड़े हुए—सारी राजसभा भी उठ खड़ी हुई। भुवनमोहनी के पार्श्व में–क्षण भर पश्चात् देखा गया कि स्वयं साम्राज्ञी चन्द्रहासिनी एवं बड़े-बड़े सामन्तों की कुल वधुएँ एवं कन्याएँ खड़ी हैं।

भुवनमोहिनी के लाल-लाल होंठ किसी अप्रत्याशित क्रोध की तीव्रता से फड़क रहे थे और उनमें से अस्फुट शब्दावलियाँ प्रवाह होते हुए जल के वेग की भाँति निकल रही थीं।

सम्राट को अपने सम्मुख देखते ही भुवनमोहिनी अपरा-धिनी सी उनके चरणों पर गिर पड़ी। विजयश्रवा की इच्छा हुई कि वह भुवनमोहिनी को युगुल बाहुपाशों में आबद्धकर उसके वीरतापूर्ण कार्य के लिए, अगणित बार चुम्बन करके, पुरस्कृत कर दे। वह ऐसी वीरांगना प्रेयसी का प्रेमी बन कर धन्य हुआ है। सम्राट ने स्वयं आदर पूर्वक, चरणों में गिरी हुई भुवनमोहिनी को उठा कर उसके शीश पर अपना वरद हस्त फेरना प्रारम्भ किया किन्तु भुवन मोहिनी काँपती हुई ओजपूर्ण, विनम्र वाणी में बोली—"पूज्य सम्राट ! मैंने राज सभा का अपमान किया है। सम्राट अपने हाथों मुझे मृत्यु दण्ड

प्रदान करें! मैं विवश थी, लुटेरी जातियों के—सेनानियों को तुष्ट करने के लिए भारतीय महिलाओं के सतीत्व एवं नारित्व का उपहासास्पद निम्न-दान एक राष्ट्रीय अपमान था जिसे महा आमात्य द्वारा प्रस्तावित किया गया सुन कर मैं अपने को न रोक सकी। क्या आज राष्ट्र की वीरता सो गई है? कभी सिंहों के साथ प्रणय लीला रचाने वाली भारतीय सिंहनी नारियाँ, असंस्कृत, बर्बर, नीच एवं लुटेरे आक्रामकों की विलास पूर्ति का साधन बन सकेंगी? इससे तो अधिक उपयुक्त यह होगा कि भारतीय सुन्दरियों से प्रस्ताव किया जाता कि वे अपने सतीत्व को लुटेरों की वासनाग्नि में स्वाहा करने से अधिक उपयुक्त चिता की लपटों से आलिङ्गन करना श्रेयस्कर समझें। भारतीय नारियों का बलिदान सर्वदा अमर रहा है। वे अपनी परम्परागत बलिदानी भावनाओं के लिए—एक नहीं—सहस्र बार—अपने तुच्छ शरीर को स्वाहा करने के लिए प्रस्तुत हैं। किन्तु यह कैसा अधः पतन लाने वाला नीच प्रस्ताव कि सिंहनी नारियाँ, कामी कुत्तों एवं शृगालों की वासना-पूर्ति का साधन बनें।"

"सम्राट! मैं उपस्थित राजसभा के वीरों से निवेदन करूँगी कि या तो वे समरभूमि में शत्रु से मोर्चा लेने के लिए कटिबद्ध हों और या वे हमारी चूड़ियाँ धारण कर अन्तःपुर में जा कर रहें। भारतीय नारियाँ अपनी मर्यादा की रक्षा में स्वयं जुट जावेंगी। महा-आमात्य ने जिस नीच मुख से राजकुमारी चन्द्रहासिनी को सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के रूप में हूणों के अधिनायक के साथ प्रणय सम्बन्ध स्थापित करने का प्रस्ताव किया था, उसी के दण्ड स्वरूप उनकी समस्त ज्ञानेंद्रियाँ,

उनके तुच्छ शरीर से विलग की जाकर शृंगालों की भोज्य वस्तु बनने के लिए राजसभा के चरणों में लोट रही हैं। और मैं अपने किये का प्रतिफल भोगने के लिए तत्पर हूँ किन्तु स्मरण रहे—चन्द्रहासिनी एक देवता की प्रेमार्घ्य बन चुकी है, वह किसी अधम राक्षस की वासनाग्नि के तुष्टि का कभी भी साधन न बनेगी।"

सम्राट ने भुवनमोहिनी को हृदय से लगा लिया और वे बोले—"भुवन मोहिनी! मृत्यु दण्ड उन्हें ही दिया जाता है जो स्वराष्ट्र के सम्मान के प्रति कृतघ्न हैं। उठो, बेटी! महाआमात्य ने स्वयं वह दण्ड प्राप्त कर लिया जो भारतीय वीरांगनाओं एवं राष्ट्र की मर्यादा को च्युत करने वालों के लिए दिया जाता। मैं तुम्हें मुँह मांगा पुरस्कार दूँगा।"

हूणों के सैनिक राजदूत भुवन मोहिनी के इस राष्ट्र प्रेम एवं वीरोचित कार्य को देखकर स्तब्ध रह गये। उन्हें भलीभाँति ज्ञात हो गया कि भारतीय सम्राट उनके सैनिक अधिनायक के साथ कैसी सन्धि करेंगे।

वे चुपचाप राजसभा से निकल जाने को प्रस्तुत हुए, किन्तु युवराज विजयश्रवा की दृष्टि से ओझल न हो सके। युवराज ने उभय राजदूतों को वन्दी बनाने का आदेश दिया, क्योंकि उसे भय था कि वे राजसभा की समस्त कार्यवाही का विवरण उपस्थित करेंगे और इस प्रकार हूण अधिनायक को वोध हो जावेगा कि अधिकांश सभासद् आत्म-समर्पण के पक्ष में थे।

चूँकि उपस्थित राजदूतों के सम्मुख राजकुमारी चन्द्रहासिनी के विवाह की चर्चा हूणों के अधिनायक के साथ की

गयी थी अस्तु राजकुमारी ने स्वयं भुवनमोहिनी के पार्श्व में बैठकर उन्हें भी मृत्यु दण्ड दिलाने की याचना की और सम्राट ने भुवनमोहनी को पुरस्कार स्वरूप उभय राजदूतों को प्राण दण्ड दिया।

पुनः सारी राजसभा यथा स्थान पर बैठ गयी और एक सम्मानीय निर्णय की प्रतीक्षा की जाने लगी। साम्राज्ञी ने उठ कर वे सुवर्ण मण्डित ताम्बूल उन वीरों को प्रदान किये जो सर्वदा विजयश्रवा के समर्थक थे।

स्वयं साम्राज्ञी ने अपने हाथों वीरों के भाल को रक्ताभ कुंकुम से रंजित किया और सम्पूर्ण वीरों के सम्मान के पश्चात् युवराज के भाल पर कुंकुम का टीका रंजित करते हुए अपने वरद-हस्त द्वारा खड्ग प्रदान किया। वे सम्पूर्ण क्षत्रिय वीर राजमाता का आशीर्वाद प्राप्त कर विजय श्री प्राप्त करने की कामना से उल्लसित हो उठे।

राजमाता ने सम्पूर्ण राजसभा को सम्बोधन करते हुए कहा—"माता के सपूत वीरो ! मुझे इससे अधिक कुछ कहना नहीं है कि राष्ट्रीय सम्मान एवं राष्ट्रीय वीराङ्गनाओं की रक्षा का भार तुम लोगों के सबल कन्धों पर आ टिका है। भारतीय नारी का वीरतापूर्ण कार्य महान् वीर जाति के लिए अनुकरणीय है।

भुवनमोहिनी इस गौरवमय युद्ध की ध्रुव-तारा है। हम कर्तव्य-भ्रष्ट न हों, इस आदर्श को हमें भुवनमोहिनी से ही ग्रहण करना चाहिए। आप सब लोग मृत्युंजय बनकर इस

युद्ध में पिल पड़ें। सफलता आपकी चेरी होगी, यही हमारा शुभाशीर्वाद है।"

राजकुमार विजयश्रवा उस युद्ध का संचालक एवं सेनापति घोषित किया गया। वह राजसभा उस दिन विजयोल्लास की कामना से परिपूर्ण होकर भंग की गयी।

साम्राज्ञी, चन्द्रहासिनी, भुवनमोहिनी एवं गण्यमान्य सामन्तों की वीर पत्नियाँ समक्ष वीरों के भालों को कुंकुम से रंजित करती हुई राजप्रसाद की ओर लौटीं।

× × × ×

कुरुक्षेत्र की पावन भूमि तीर्थ स्थली एवं रण-स्थली के रूप में सर्वदा भारत माता की गोद में प्रसिद्ध रही थी और है। हूणों की समस्त सेना उत्तर भारत की ओर से बढ़ती हुई इन्द्रप्रस्थ पर आक्रमण करने की योजना बना रही थी। महाराज आदित्य सेन ने सम्राट द्युमत्सेन को हूणों के बर्बरतापूर्ण आक्रमण का सन्देश देते हुए लिखा था कि सम्राट की सशक्त सेना हूण आक्रमणकारियों के इन्द्रप्रस्थ पहुंचने से पूर्व ही कुरु-क्षेत्र की रण-स्थली में आकर डॅट जानी चाहिए और यही से निर्णायक युद्ध होना चाहिए।

यद्यपि उन दिनों इन्द्रप्रस्थ भारतीय सम्राट की राजधानी न थी, बल्कि धारा नगरी के नरेश ही भारत के राज-राजेश्वर पद को विभूषित रहे थे किन्तु इन्द्रप्रस्थ को महान् सम्राटों की राजधानी बनने का गौरव समय-समय पर प्राप्त होता आया था। अस्तु इन्द्रप्रस्थ नरेश महाराज आदित्य सेन उत्तर भारत के अण्खड राज्यों के नरेशों से सर्वाधिक शक्ति-शाली थे। इस

प्रकार से यदि उन्हें उपसम्राट के समान शक्ति-शाली मान लिया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

उन सामन्ती वैभव के दिनों में भारतीय सेनाएँ प्राय: चार सैनिक टुकड़ियों में विभक्त रहती थीं। (१) पदचारी सैनिक (२) अश्वारोही (३) गजारोही (४) रथारोही—उन दिनों युद्ध करने के आधुनिक शस्त्रास्त्र एवं साधन न होकर तलवार, भाला, खाँड़ा, तीर, धनुष, बाण, परशु, गदा, कुलिश, दण्ड, चर्म, त्रिशूल, एवं सिरोही आदि शस्त्र थे जिन्हें चलाने वाले प्राय: भूमि-युद्ध ही अधिक किया करते थे। अस्त्र-शस्त्र चालक गण बड़े-बड़े शस्त्राचार्यों से युद्ध विद्या सीखते थे और शारीरिक शक्ति को अपरिमित एवं अजेय बना रखना ही उस सैनिक युग का महान् आदर्श था।

इन्द्रप्रस्थ नरेश महाराज आदित्य सेना की सुसंगठित सेना के चारों भाग संख्या, शक्ति एवं युद्ध कौशल में भली भाँति दक्ष थे। उन दिनों वे ही नरेश सम्राट बन पाते थे जिनकी विजयवाहिनी सेनाएँ, शत्रु दल के समस्त गर्व को खर्च कर विजय श्री सम्वरण किया करती थीं। कहना नहीं होगा कि महाराज आदित्यसेन की शक्ति यदि विशेष न थी, तब भी भारतीय सम्राट से बहुत निम्न भी न थी। समस्त उत्तर भारत में महाराज आदित्यसेन शक्तिशाली शासक के रूप में गिने जाते थे।

महाराज आदित्यसेन ने हूणों के आक्रमण करने की विधि एवं युद्ध कौशल को बड़ी गोपनीयता से जान लिया था। उनके सैनिक गुप्तचर हूणों के भारतीय सीमा में प्रवेश करने के

साथ ही, उन्हीं की सेना में सैनिक बनकर रहने लगे थे। हूण सेनानी भेद नीति द्वारा भारतीय शक्ति एवं बल-वैभव का अनुमान इसी प्रकार के सैनिकों द्वारा एकत्रित करते रहते थे।

महाराज आदित्यसेन के कुछेक सैनिक भेद-नीति में बड़े कुशल थे। उन्हें महाराज आदित्यसेन द्वारा कई पिछले युद्धों में पुरस्कृत किया गया था। उनका कार्य था कि वे शत्रु-सेनानियों को भारतीय वीरता एवं सेना की संख्या का ज्ञान बढ़ा चढ़ाकर बताया करते थे और वे संख्या में अपने को कम मानकर कभी-कभी भारतीय वीरों को ही बड़ी जाँच पड़ताल के पश्चात् अपनी सेना में भरती करके पुरस्कार, प्रलोभन एवं पद की महत्ता का लोभ देकर वशवर्ती कर लेते थे किन्तु वे लोग वास्तव में शत्रु पक्ष की सेना का पूर्ण ज्ञान करके उसकी सूचना महाराज आदित्यसेन को देते थे।

इस प्रकार के सैनिक प्राय: महाराज आदित्यसेन के राज-कोष से निरन्तर वेतन भोगी होते थे जिनके संबन्ध में अन्य राजकीय कर्मचारियों को कोई ज्ञान न होता था। कभी-कभी तो वे सर्व साधारण सैनिक अधिकारियों द्वारा पहचाने तक न जा सकते थे।

इस प्रकार महाराज आदित्यसेन ने सैनिक शक्ति का कूट प्रयोग करके शत्रु पक्ष की सैनिक शक्ति एवं साधन का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था और इसकी सूचना राजकुमार विजयश्रवा को दे दी थी।

महाराज आदित्यसेन की सैन्यशक्ति इन्द्रप्रस्थ से चलकर, शत्रु से मोर्चा लेने के लिए कुरुक्षेत्र के मैदान में आ डटी और

इधर धारा नगरी से सम्राट द्युमत्सेन की पराजित सेना राजकुमार विजयश्रवा के नेतृत्व में चलकर, महाराज आदित्यसेन की सेना से आ मिली। सम्राट एवं महाराज द्युमत्सेन की सेना के अतिरिक्त अन्य खण्ड राज्यों के नरेशों ने भी अपनी सेनाएँ मातृभूमि की रक्षा के लिए कुरुक्षेत्र के युद्ध स्थल में भेज दिया।

युवराज विजयश्रवा समस्त सम्मिलित भारतीय सैन्य दल का सेनाधिपति घोषित किया गया और उसके योग्य संचालन में भारतीय सैन्य हूण आक्रामकों की प्रतीक्षा करने लगीं।

जब हूण अधिनायक को ज्ञात हुआ कि उसके उभय सैनिक राजदूत सम्राट की राजसभा में मार डाले गये और उसके समस्त प्रस्ताव ठुकरा दिये गये हैं, वह क्रोधाग्नि से जलकर सीधे इन्द्रप्रस्थ की ओर चला किन्तु उसे शीघ्र ही ज्ञात हुआ कि इन्द्रप्रस्थ के मार्ग को चारों ओर से घेर लिया गया है और उसे भारतीय नरेशों एवं सम्राट की संयुक्त शक्ति से अकेले मोर्चा लेना पड़ेगा।

उत्तर भारत के अधिकांश खण्ड राज्यों की सेना को वह अब तक पराजित करता हुआ आगे बढ़ता आया था किन्तु अब उसकी सेना के हाथ पाँव फूलने लगे थे। सिकन्दर की भाँति उसकी अधिकांश सेना खण्ड राज्यों के छोटे-छोटे नरेशों की सेनाओं से यद्यपि विजयी हुई थी किन्तु इतने ही युद्ध में हूणों की अधिकांश सेना नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी एवं उसके समस्त साधन, जिनके द्वारा खाद्य एवं शस्त्रास्त्र की प्रचुरता रहा करती थी, भारतीय सेना द्वारा विनष्ट किये जा चुके थे।

हूणों के अधिनायक को भरोसा था कि वह भारतीय खण्ड राज्यों के नरेशों को पराजित करके, उनसे अतुल जन-धन, खाद्य सामग्री एवं अस्त्र-शस्त्र प्राप्त कर लेगा किन्तु उसकी आशा कल्पना मात्र सिद्ध हुई। पराजित नरेशों ने पराजित होने से पूर्व ही अपने समस्त सैनिकोपयोगी साधनों को स्वयं नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था अतः हूणों को महान क्षति के पश्चात् प्राप्त हुई विजय-श्री बड़ी अमूल्य सिद्ध हुई।

जब उसे ज्ञात हुआ कि उसकी विजय वाहिनी सैन्यशक्ति बड़ी से बड़ी आपत्तियों से सामना करते हुए भी इस प्रकार कभी शिथिल, निर्बल एवं निस्तेज नहीं हुई थी जैसी शोचनीय स्थिति में भारतीय सम्राट से युद्ध करने जाते समय हो रही है, तो वह क्षोभ से अपने समस्त सैनिक पदाधिकारियों को बुलाकर एक सम्मेलन करने चला। उसने अपनी सेना को बड़े-बड़े सुनहले सपने दिखलाये किन्तु सैनिक पदाधिकारियों ने स्पष्ट बतला दिया कि निरन्तर युद्ध करते-करते एक तो सेना थक चुकी है। द्वितीय युद्धोपकरण की कमी ने सैनिकों का साहस नष्ट कर डाला है। खाद्य सामग्री भी दीर्घकाल तक चलते रहने वाले युद्ध के लिए पर्याप्त नहीं है अस्तु युद्ध से अधिक उपयुक्त तो यही होगा कि भारतीय सम्राट से सम्मानपूर्ण सन्धि कर ली जावे या आगे न बढ़कर यहीं से लौट चला जाय।

हूण अधिनायक अपनी वास्तविक स्थिति समझ गया किन्तु भारतीय वैभव के लोभ ने उसे पीछे लौटने न दिया। वह यथा स्थान पहुँच कर लूट-पाट उपद्रव के द्वारा पुनः खाद्य

सामग्री एवं धन-राशि को जुटाने लगा। आगे बढ़ना उसने बन्द कर दिया और सेना का पुनर्गठन करने लग गया।

निरन्तर छः मास तक निर्दय लूट-पाट के पश्चात् जब उसने अतुल धन-राशि एकत्रित कर लिया तो एक बार पुनः उसके दुःसाहस ने उसे आगे बढ़ाया। इधर विजयश्रवा ने इतनी सुन्दर एवं सफल व्यूह रचना की थी कि शत्रु-शक्ति वास्तव में भारतीय नरेशों की संयुक्त सेना के सामने न ठहर सकी।

कुरुक्षेत्र के मैदान में एक निर्णायक युद्ध लड़ा जाने लगा। रण नदी में अगणित वीरों ने डूबकर जीवन की समाधि लगा ली। विजयश्रवा ने अनेक स्थानों एवं मोर्चों पर हूण सेनापतियों को पराजित किया। अन्त में जब हूण अधिनायक ने विजयश्री को अपनी ओर से दूर जाते देखा और साथ ही रक्त वैतरिणी में डूबने वाली स्वसैन्य के पुनरुद्धार की कोई आशा न देखी तब उसने विजयश्रवा को द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारा और दोनों ओर से निश्चित किया गया कि युद्ध का निर्णय द्वन्द्व-युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले सेनापति के हार-जीत पर निश्चित किया जायगा।

यद्यपि भारतीय सेना ने हूण सैनिकों को इस प्रकार पराजित किया था कि वे संख्या में केवल चतुर्थांश बच पाये थे फिर भी बची हुई सेना अर्द्ध लक्ष से कम न थी। विजयश्रवा भी निरपराध प्राणियों की निर्दय हत्या देखकर रो पड़ा था अस्तु हूण अधिनायक के प्रस्ताव को उसने स्वीकार कर

लिया। उभय पक्ष की सेनाएँ अपने-अपने अधिनायक के विजय की आकांक्षा लिये हुए द्वन्द्व-युद्ध देखने लगीं।

रणाङ्गन में हूण अधिनायक एवं विजयश्रवा द्वन्द्व-युद्ध के लिए उतरे। दोनों ने प्राणों कीत बाजी लगाकर एक दूसरे के आक्रमण को विफल करना प्रारम्भ किया। हूण अधिनायक ने कई बार विजयश्रवा पर सांघातिक प्रहार किया किन्तु विजयश्रवा प्रत्येक बार उसके प्रहार को विफल कर देता था।

विजयश्रवा घन्टों रक्षात्मक युद्ध लड़ता रहा। जब तक हूण अधिनायक थक न गया तब तक वह बराबर विजयश्रवा पर सांघातिक अस्त्र-शस्त्रों द्वारा वार करता रहा और विजय-श्रवा ने सिवाय अपने को बचाने के लिए कभी भी शत्रु पर प्रहार नहीं किया किन्तु ज्यों ही उसे पता चला कि हूण अधि-नायक की समस्त शक्ति विफल होती गई है और वह अब पर्याप्त शिथिल हो चुका है तब उसने रक्षात्मक युद्ध को पैंतरे से बदल कर, आक्रमणात्मक युद्ध की ओर प्रवृत्त हुआ।

हूणों ने अब तक अपने अधिनायक पर विजयश्रवा का प्रहार न देखा था अतः वे आशावान हो चले थे कि अन्त में उसी की विजय होगी किन्तु ज्यों ही विजयश्रवा ने रक्षात्मक युद्ध बदल कर आक्रमणात्मक युद्ध प्रारम्भ किया, हूणों को विजय की आशा स्वान व्यङ्ग सी ज्ञात होने लगी। विजय-श्रवा के प्रहारों को विफल करने की उसमें शक्ति न थी। प्रत्येक प्रहार में विजयश्रवा हूण अधिनायक के किसी न किसी अङ्ग को अवश्य ही भङ्ग कर देता था।

अन्तिम बार विजयश्रवा ने हूण अधिनायक को सावधान

करते हुए कहा—"बस, यह मेरा अन्तिम प्रहार होगा।"

हूण अधिनायक को विजयश्रवा ने सावधान करने के साथ ही थोड़ा सा अवकाश भी दे दिया और ज्यों ही विजय-श्रवा ने श्रवण पर्यन्त प्रत्यंचा खींचकर हृदय वेधी बाण का प्रहार किया, हूण अधिनायक एक आह खींचकर अपने हाथी से भूमि पर गिर पड़ा। इधर विजयश्रवा का हाथी बढ़ा और उसने हूण अधिनायक को अपने पाँवों से रौंद डाला।

विजयश्रवा ने दूसरा प्रहार शत्रु के फहराते हुए पताका पर किया जो क्षण भर ही में धराशायी हो गया। शत्रु सेना अपने अधिनायक का विनाश देखते ही भाग चली। संयुक्त भारतीय सेना जो पहले ही व्यूह रचना कर चुकी थी, चारों ओर से शत्रु पर टूट पड़ी। शत्रु सैन्य अपना सर्वनाश देख हथियार डालने लगी।

विजयश्रवा ने शरणागत सैनिकों को अभय दान देकर अपनी उदारता का परिचय दिया। शत्रु सैन्य के अस्त्र-शस्त्र एवं युद्धोपकरण छीन लिये गये। अधिकांश सैनिकों ने स्वदेश लौटने से अस्वीकार कर दिया। वे पूर्णतः विजयश्रवा की शरण आ चुके थे। विजयश्रवा ने उन्हें भारतीय जीवन के आदर्शों को स्वीकार करने की प्रेरणा दी। वे सब कालान्तर में भारतीयता के समर्थक एवं भारत निवासी बन गये।

शत्रु सैन्य दल भारतीय संस्कृति से इतना अधिक प्रभा-वित हुआ कि उनमें से स्वदेश लौटने वाले बहुत कम बचे। भारतीय सेनापति के संरक्षण में वे सब लोग भारतीय सीमा

के बाहर पहुँचा दिये गये और इधर विजयश्रवा विजयश्री को सम्वरण कर धारा नगरी लौटा।

मार्ग में खण्ड राज्यों की सेनाएँ इन्द्रप्रस्थ तक साथ-साथ आईं। महाराज आदित्यसेन की ओर से विजयी सेनाओं का यथोचित आदर सत्कार किया गया।

विजयश्रवा को भी विश्राम करने के लिए महाराज आदित्यसेन के आग्रह पर रुकना पड़ा किन्तु वह स्वसैन्य साथ लिए रहने के कारण अधिक दिनों तक न रुक सका।

हाँ, विशेष बात यह अवश्य हुई कि महाराज आदित्यसेन ने कुछ समय पूर्व ही सम्राट द्युमत्सेन को भी आमन्त्रित कर लिया था। क्योंकि उस समय तक विजयश्री प्राप्त करने की बलवती आशा हो चली थी।

सम्राट द्युमत्सेन ने अपने विजयी पुत्र का हृदय से अभिनन्दन किया। साथ में भुवनमोहिनी भी थी जो अब तक एक सैनिक के वेष में विजयश्रवा के साथ-साथ रहती आई थी। महाराज आदित्यसेन के विशेष आग्रह पर राजकुमारी चन्द्रहासिनी के विवाह-संस्कार का सुखदायक समारोह इसी विजय-पर्व में मनाया गया और सम्राट द्युमत्सेन साथ में पुत्र वधू एवं अतुल धन लेकर विजयश्री के गर्व के साथ अपनी राजधानी धारा नगरी लौट आये।

विजय एवं विवाहोत्सव की रंगरेलियाँ महीनों मनायी गईं और सम्राट द्युमत्सेन ने अपने जीवन-काल में ही विजयश्रवा का राज-तिलक कर संन्यास ग्रहण किया। इस महोत्सव के शुभ अवसर पर अनेक खण्ड राज्यों के शासक एवं नरेश गण

भी आ पहुँचे थे और कुछ तो विजयश्रवा के साथ ही रण-भूमि से लौटे थे। सबका यथोचित सत्कार एवं सेवा-सुश्रूषा की जाकर उन्हें पुरस्कृत भी किया गया।

धीरे-धीरे सभी अतिथि अभ्यागत नरेश वर्ग सम्राट का आतिथ्य स्वीकार करने के पश्चात् अपने-अपने राज्य लौट चले और महामहिमामयी धारा नगरी भारतीय साम्राज्य की राजधानी के रूप में सम्राट विजयश्रवा की क्रीड़ा भूमि बनी।

× × × ×

एक दिन का निर्वासित युवराज आज धारा नगरी का सम्राट था। उसकी प्रेयसी भुवनमोहिनी भी आज साम्राज्य की हित-चिन्तक थी। उसने अपने स्नेह एवं प्रणय को विजयश्रवा के प्रति उत्सर्ग करके सम्राट द्युमत्सेन एवं साम्राज्ञी का आशीर्वाद एवं वरदान प्राप्त कर लिया था। वह निर्वासित-काल जैसी, एक हीन दृष्टि से देखी जाने वाली तुच्छ नर्तकी न थी वरन् एक बार प्राणों को हथेली में लेकर उसने जिस वीरता का प्रदर्शन किया था, वह घटना विजयश्रवा के महान् विजय की कारण बनी थी। राष्ट्र के सुप्त वीरत्व भाव को जगा कर उसने विलासी एवं प्राणों के मोह में फँसे क्षत्रियों को सर्वोत्सर्ग का पाठ पढ़ाया था। आज वह महामहिमामयी बन चुकी थी।

युवराज के स्थान पर सम्राट का उत्तरदायित्व ग्रहण करते ही विजयश्रवा समस्त खण्ड राज्यों के नरेशों का एक सुदृढ़ संघ

वना कर, सत्ता एवं शक्ति के अविरल स्रोत में बहने लगा था। भुवनमोहिनी ने प्रणयोत्सर्ग का आदर्श उपस्थित कर, राजकुमारी चन्द्रहासिनी को साम्राज्ञी के पद पर प्रतिष्ठित कराया था। आज चन्द्रहासिनी का विजयश्रवा के जीवन एवं कर्त्तव्य पर अमिट प्रभाव पड़ रहा था। भुवनमोहिनी इस युगल प्रेमियों के मार्ग से हट कर, राष्ट्र की सुप्त नारी जाति की सेवा में लग गई थी।

भुवन मोहिनी का समस्त राष्ट्रीय समाज में सम्मान था। वह कटी-कटी पतंग सी—जीवन में एक निरीह करुणा भर कर अपने आप दीन वन गई थी। वह विजयश्रवा से दूर रहती और प्रायः विजयश्रवा के बुलाने पर ही उसके समीप जाती थी। वह सर्वदा विजयश्रवा को भुलाने के प्रयास में लगी रहती थी। उसने अपने जीवन का ऐसा कार्य-क्रम बनाया था कि वह समस्त वर्ष भर देश में चारों ओर घूमती थी। वह पतित नारी को पावन करने चली थी।

विजयश्रवा का कर्मठ जीवन, उसे प्रति क्षण साम्राज्य के हित-चिन्तक कार्यों में लगाये रहता था। जब कभी वह अवकाश पाता और अपने एकान्त क्षणों को सरस एवं मधु-मय बनाने की चेष्टा करता, तभी एक उच्छ्वसित आह उसके अन्तर से निकल कर अपने चारों ओर भुवनमोहिनी को खोजना चाहती। विजयश्रवा मन ही मन सोचता कि उसने भुवनमोहिनी की समस्त सेवाओं के प्रतिफल स्वरूप उसे क्या प्रदान किया है? एक प्रश्न वाचक सी भुवनमोहिनी की छाया विजयश्रवा के अन्तर्गर्भ में मौन खड़ी रहती। विजय-

श्रवा उसे चारों ओर खोजने के लिए विशेष दूत भेजता और वर्षों पश्चात् जब वह पुनः विजयश्रवा के सम्मुख उपस्थित होती तो विजयश्रवा प्रश्न करता—"प्रिये ! तुम मुझे भूलकर मुझसे इतनी दूर क्यों भाग जाती हो ? वह तुम्हीं तो हो न, जिसने राजकुमारी चन्द्रहासिनी को मेरे जीवन में बलात् प्रवेश कराने की अनवरत चेष्टा की है। मैंने तो यह कभी न समझा था कि चन्द्रहासिनी को पाकर तुम्हें खोना पड़ेगा। मैं दृष्टि फाड़-फाड़ कर सूने पथ पर तुम्हारे बढ़ते चले आने वाले महायान की प्रतीक्षा करता रहता हूँ, अपने अन्तर की उस विवश आकुलता को दबाकर; किन्तु जब तुम्हें नहीं देख पाता तब एक महान् पश्चाताप-मयी भावना जीवन में घुल कर कहती है—"सब व्यर्थ हैं, मेरे जीवन के कर्म ! मेरी दह-कती हुई वक्ष भूमि ज्वालामुखी का उद्गार बन जाती है।" बस, उसी समय अपनी दृष्टि में निराशा भरकर चन्द्रहासिनी प्रश्न करती है—"प्रियतम ! क्या मैं अपना समस्त प्रेम दान देकर भी उस आग की ज्वलनशीलता को कम नहीं कर पाती जिसे भुवनमोहिनी की स्मृति ने दहकाया है ! आह ! मैंने भूल की है। मैंने अपने सुख के लिए आपके और भुवनमोहिनी के बीच जीवन भर की होली जला दी है।"

भुवनमोहिनी उसी समय विजयश्रवा से अपने भ्रमण का लेखा-जोखा सुनाती और बतलाती वह कब, कहाँ और किस प्रकार भ्रमण करते हुए पतित नारियों की सेवा द्वारा अपने को धन्य बना सकी है। वह सर्वदा प्रेम-विरह की चर्चा को न सुनने या टाल जाने की चेष्टा करती और विजयश्रवा

के सम्मुख राजकुमारी के रूप गुण एवं आकर्षण की कहानी बढ़ा-चढ़ाकर सुनाती। इसी प्रकार विजयश्रवा के सम्राट होने के समय से लेकर अब तक के उसने पाँच वर्ष बिता डाले थे।

अब भुवनमोहिनी के उस मदोन्मत्त स्वरूप की मादकता भरी लावण्यता के स्थान पर दयनीयता की एक धुँधली छाया स्पष्ट झाँकने लगी थी। यद्यपि आज भी उसका स्वरूप दीप-शिखा की भाँति देदीप्यमान रहता था फिर भी वह अपने स्वरूप को विकृत बनाने की चेष्टा में संलग्न रहती थी। आज वह भुवनमोहिनी पाँच वर्ष पूर्व अगले जीवन को एक क्षण के लिए भी स्वीकार न करती थी जब उसे अपने प्रिय-तम के सम्मुख जाने से पूर्व सुगन्धित अङ्गरागों से स्नान करना पड़ता था। दासियाँ विविध पुष्पों के द्वारा घन्टों उसकी वेणी को सजाती थीं और जब वह उन्हीं पुष्पों के अनुरूप रंग वाले रत्नों से जटित आभूषण धारण करती थी, तब स्वयं दासियाँ उसे घन्टों घूर कर देखतीं और पुनः डीट न लगने का उपचार करतीं।

आज वही भुवनमोहिनी अति साधारण वेष-भूषा में रहती हुई जिस प्रखर संयम एवं वैराग्य के द्वारा अपना जीवन सजाती जा रही थी वही विजयश्रवा की चिन्ता का विषय बन गया था। यद्यपि चन्द्रहासिनी के सामीप्य में रहकर विजयश्रवा परिपूर्ण रूप से सन्तुष्ट था और चन्द्रहासिनी की तुलना में पूर्ण विकसित एवं शृङ्गार युक्त सौन्दर्य का दर्शन असंभव था किन्तु फिर भी चन्द्रहासिनी उसके उपभोग की

सामग्री बनकर जैसे उस स्तर से च्युत हो चुकी थी जहाँ पर आज भी भुवनमोहिनी की वैराग्यमयी प्रतिमा प्रतिष्ठित थी।

एक दिन अवकाश का समय था। भुवनमोहिनी इस बार अनेक पवित्र तीर्थ स्थलों का दर्शन करके लौटी थी और वह अपने अनुभव की अनेक कहानियाँ सुनाकर सम्राट विजय-श्रवा का मनोरंजन कर रही थी। विजयश्रवा के सम्मुख चन्द्रहासिनी एवं भुवनमोहिनी दोनों बैठी थीं। चन्द्रहासिनी की गोद में एक देवोपम कोमलता का प्रतिमूर्ति सा मनोहर राज-कुमार खेल रहा था और वह बारम्बार माता की गोद से उछलकर भुवनमोहिनी की गोद में जा बैठने का बाल-हठ कर रहा था।

चन्द्रहासिनी बाल-शिशु के इस व्यवहार से कुढ़कर व्यङ्ग-पूर्ण वाणी में बोल उठी—"जा तू भुवनमोहिनी की गोद में ही रहा कर! न जाने, कब से तेरे पिता उनके नाम की माला जपते रहे हैं अब तू भी पिता की भाँति मेरा तिरस्कार करने पर तुला हुआ है।"

चाहे चन्द्रहासिनी ने यह बात व्यङ्ग विनोद में ही कही हो किन्तु भुवनमोहिनी की दृष्टि में बात इतनी तीखी थी कि वह सीधे उसके हृदय में जाकर चुभ गयी। कोई बारम्बार उसके हृदय को कुरेद कर कह उठता—"तू भी पिता की भाँति मेरा तिरस्कार करने पर तुला है।"

आज प्रथम बार भुवनमोहिनी चन्द्रहासिनी के व्यङ्ग कटाक्ष से आहत होकर तिलमिला उठी किन्तु उसने अपनी भावना को हृदय में ही छिपा लिया। उसके हृदय ने प्रथम

बार तिरस्कार भरे भावों से भुवनमोहिनी से प्रश्न किया—
"यही वह राजकुमारी है जिसको सुखी बनाने के लिये तूने अपनी प्रेमाकांक्षाओं की होली जला दी है फिर भी राजकुमारी उसके प्रति कृतज्ञ नहीं है।"

राजकुमारी चन्द्रहासिनी ने राजकुमार को अपनी गोद से भुवनमोहिनी की गोद में जाने न दिया। अब वह प्रायः विजयश्रवा में एक प्रकार का ऐसा सक्रिय परिवर्तन देख रही थी कि उसे विश्वास हो चला था कि विजयश्रवा क्रमशः उसकी ओर से उपेक्षित होता जा रहा है। यद्यपि वास्तविकता यह थी कि विजयश्रवा को अपने दायित्वों के प्रति जागरूक रहने के कारण इतना कम अवकाश मिल पाता था कि वह अपने दाम-पत्य जीवन के प्रति वैसा ममत्व न प्रदर्शित कर पाता था जैसा चन्द्रहासिनी से प्रथम मिलन के समय उसने प्रदर्शित किया था। चन्द्रहासिनी इस उपेक्षा का कारण भुवनमोहिनी का दीर्घकाल के पश्चात् आगमन समझ रही थी और विजयश्रवा बिना दुराव के अपना आदर तथा स्नेह भुवनमोहिनी के प्रति प्रकट करता था। चन्द्रहासिनी साम्राज्ञी बनते ही भुवनमोहिनी के उस स्नेह-दान को भूलती-सी जा रही थी जिसे उसने एक दिन भिखारिणी की भाँति याचना की थी।

विजयश्रवा निरन्तर भुवनमोहिनी के हृदय को कुरेदता हुआ, अतीत की अनेक स्मृतियाँ जागृत करने का प्रयास करता था। उसे वे दिन याद आते थे जब वह अपनी तूलिका लेकर भुवनमोहिनी का सौन्दर्य चित्रित करने बैठता था। उन दिनों विजयश्रवा के जीवन की पागल अभिलाषाएँ भुवनमोहिनी को

पाकर भी अप्राप्य की भाँति उसे खोजती हुई थकती न थीं। वही भुवनमोहिनी आज विजयश्रवा के प्रेम की योगिन-वियोगिन बनकर उससे दूर रहती हुई अपने उन्मथित जीवन की अशांति को कभी तीर्थाटन और कभी नारी सेवा-द्वारा कम करने का प्रयास करती थी।

चन्द्रहासिनी अब तक भुवनमोहिनी को पर्यटन करते हुए जानकर यह समझती आई थी कि क्रमशः विजयश्रवा उसे भूलता जा रहा है और वह विजयश्रवा को, किन्तु सुदीर्घ वियोग के पश्चात् जब आज विजयश्रवा से भुवनमोहिनी मिली तब उसे ज्ञात हुआ जैसे वह साम्राज्ञी बनकर भी विजयश्रवा द्वारा वह आकुल प्रणय-दान नहीं पा रही है जो आज भी भुवनमोहिनी के लिए उसके पति के हृदय में सुरक्षित है।

शृङ्गार-विहीन भुवनमोहिनी का अनूठा योगिनी स्वरूप देखकर विजयश्रवा कह उठा—"प्रिये ! अब मुझे इस प्रकार अकेला छोड़कर तुम कहीं मत जाया करो।"

—"क्यों ?" भुवनमोहिनी ने सम्राट विजयश्रवा को शुष्क दृष्टि से देखते हुए कहा।

—इसलिए कि राज-काज से अवकाश मिलने पर जब कभी तुम्हारी पागल स्मृति हृदय में उठती है, और तुम मुझसे दूर रहती हो, तब मेरा हृदय चीत्कार कर उठता है और कहता है कि क्या इसीलिए तुमने विवश करके मुझे चन्द्र-हासिनी को स्वीकार करने की प्रेरणा दी थी कि तुम मुझसे विलग रहो।

—तो इसमें बुराई क्या है, मेरे सम्राट ! आपके दाम्पत्य

जीवन में मेरी उपस्थिति सर्वदा बाधक होती और हमारी सम्माननीय साम्राज्ञी समझतीं कि मैं उनके सरस जीवन में अपनी उपस्थिति दिखला कर विष घोलती हूं। आज मुझे सन्तोष है कि निरन्तर पांच वर्षों तक आपसे दूर रहकर मैंने अपने को अपराधिनी बनने से बचा लिया है।

—"यही झूठ है।" मर्मस्थल पर आघात करते हुए राज-कुमारी बोली। "यह तो मुझे फुसलाने का एक विषैला षड-यंत्र है।"

विजयश्रवा इस प्रकार चन्द्रहासिनी का आरोप सुनकर मन ही मन क्रुद्ध हो गया किन्तु अपराधिनी-सी भुवनमोहिनी दयनीय दृष्टि से साम्राज्ञी को देखती हुई बोली—

—"राजकुमारी ! क्षमा करो ! पिछले पांच वर्षों में संभवतः कुल मिलाकर, धारा नगरी में मेरी उपस्थिति अधिक से अधिक एक माह हो सकती है। जब मैं अपने पागल मन को नहीं रोक पाती थी, तभी सबके दर्शन के लिए दो-चार दिन रुक जाती थी किन्तु मुझे आश्चर्य होता है कि मैंने दोनों के दाम्पत्य जीवन में कब विष घोलने का षडयंत्र किया ? आज भी अपराधिनी सिद्ध होने पर मैं सहर्ष कठोर से कठोर दण्ड स्वीकार करूँगी।"

—जिसके शीश पर भारत सम्राट का वरद-हस्त अपनी छत्र छाया कर रहा हो, उसे दण्डित करने का अपराध कौन मोल लेगा ?—पुनः राजकुमारी ने व्यंग्य वाग्बाण द्वारा भुवन-मोहिनी के हृदय-पिण्ड पर निर्दय आघात किया।

–असत्य है, राजकुमारी ! जिस अपराध का सन्देह तुम मुझ पर आरोपित कर रही हो, उसे हृदय चीरकर यदि दिखाया जा सकता तो मैं अवश्य दिखलाती कि तुम्हारे प्रियतम को अपनी ओर मिलाये रखने का मैंने कोई कुचक्र नहीं रचा। हाँ, मैं सम्राट को नहीं रोक पाती कि वे अपनी ममता की धारा मुझ पर न उड़ेलें।

–"यही तो कांटा है जिसे दूर करना चाहिए !" दुस्साहस पूर्वक राजकुमारी ने कहा।

भुवनमोहिनी राजकुमारी की संशय ग्रस्त हृदय-ग्रन्थि का भेदन न कर सकी। वह अपनी निर्दोषता का इससे अधिक क्या प्रमाण देती कि केवल मात्र उसी के सुख के लिए वह विजन-वन की कंकरीली पथरीली घाटियों एवं गलियों में वर्षों भटकती रही है और उसने राजकुमारी को पर्याप्त अवकाश प्रदान कर स्वर्णिल अवसर उपस्थित कर दिया था कि वह विजयश्रवा के हृदय-साम्राज्य की अकेली रानी बनी रहे।

भुवनमोहिनी के नेत्र-कोरों में आंसू झांकने लगे। वह एक संशय ग्रस्त मार्मिक पीड़ा के प्रहार से शून्य आकाश को देखने लगी। उसकी दृष्टि में अँधेरा-सा छा गया। वह अपनी निर्दोषिता का क्या प्रमाण दे ? वह इसी क्षण कहां भाग जाये, जहाँ चन्द्रहासिनी की सन्दिग्ध दृष्टि उसे देख न पावे ? क्या वह छलना से भरे जीवन का अन्त कर दे ?

विजयश्रवा भुवनमोहिनी के आँसूओं को देखकर द्रवित हो उठा। उसने क्रोध-मिश्रित घृणा पूर्ण स्वर में कहा–"भुवनमोहिनी ! पा लिया न, वह परिणाम जिसके प्रति मैंने तुम्हें

सावधान किया था। चन्द्रहासिनी आज भारत की साम्राज्ञी हैं। वह तुम जैसी तुच्छ नारी के प्रति कभी कृतज्ञ नहीं बन सकती। उन्हें वे क्षण भूल गये हैं, जब दीन-हीन याचक की भाँति तुम्हारे सम्मुख नेत्रों में आंसू भरे हुए प्रणय दान के लिए अपना अंचल फैलाये हुए थीं! आज तुम्हारे आंसू देखकर वे मुसकरा रही हैं।

चन्द्रहासिनी इस प्रकार विजयश्रवा द्वारा भुवनमोहिनी के पक्ष का समर्थन देखकर क्रुद्ध सर्पिणी सी फुफकार उठी और तमक कर वह बोली—"भुवनमोहिनी! मेरी बातें जितना तुम्हें असह्य न होंगी, उससे कहीं अधिक भारत सम्राट को दुखा रही हैं! बहिन, मुझे क्षमा करो कहीं इन बातों का बदला मुझसे चुकाया गया तो मैं किसका सहारा खोजूँगी? कम से कम तुम्हारा पक्ष तो भारत सम्राट ग्रहण कर रहे हैं न?

आज विजयश्रवा को चन्द्रहासिनी के वास्तविक हृदय का ज्ञान हुआ। नारी जो सर्वदा ही स्नेह के सम्बन्ध में असहिष्णु रही है, जिसने हृदय की उदारता को इसलिए हीनतम बना डाला था कि उसके प्रियतम को अन्य नारी प्यार भरी दृष्टि से देखने का दुस्साहस न करे।

विजयश्रवा चोट खाये हुए सिंह की भाँति चन्द्रहासिनी को देखने लगा। चन्द्रहासिनी भी समझ गई कि उसने अपनी तीखी एवं द्वेषपूर्ण बातों से पति को भी कुपित कर दिया है किन्तु वह सर्वदा सत्ता एवं शक्ति की उपासिका होने के कारण अधिक धृष्ट स्वर में बोली—"भुवनमोहिनी! तुम्हारा पक्ष लेकर आज

भारत सम्राट मेरे प्रति रुष्ट से दीख पड़ते हैं। उन्होंने अभी अभी स्वीकार किया है कि तुम्हारी दया के कारण मैं साम्राज्ञी बनी हूं। कुछ भी हो, यदि तुम्हारी दया मुझे न भी प्राप्त होती, तब भी मैं राजकुमारी होने के कारण किसी न किसी राज-कुमार की जीवन-सङ्गिनी तो अवश्य ही बनती किन्तु हाँ, आज सम्राट भी मुझ पर कृतज्ञता का बोझ लादकर यह कह रहे हैं यदि तुमने मेरे साथ सदय व्यवहार न किया होता तो वे संभवतः मुझे स्वीकार न करते।

—इसमें भी कोई सन्देह है—चिढ़ कर विजयश्रवा बोला—और इतना ही नहीं, विजयश्रवा की सौम्य-मूर्ति कृतज्ञ चन्द्र-हासिनी को देखकर क्रोधोन्मत्त हो उठी। उसके मुख का रंग उत्तप्त ताम्रसा लोहित हो उठा। विजयश्रवा कुछ कहने जाकर भी, चुप ही रहा।

चन्द्रहासिनी पति की मुखाकृति देखकर क्षण भर के लिए स्तब्ध रह गयी किन्तु इस बार वह पुनः भुवनमोहिनी पर भूखी सिंहनी सी झपट पड़ी —वह बोली—"देखो, भुवन-मोहिनी, मैं झूठ थोड़े ही बोलती हूँ। तुम्हारी उपस्थिति से किसप्रकार हमारे दाम्पत्य जीवन में भयानक प्रहार लगते हैं, इसका अनुभव इसी क्षण कर लो न!"

भुवनमोहिनी भविष्य में न उपस्थित होने की विनीत प्रार्थना करने ही जा रही थी, सहसा उसके भावों को विजयश्रवा समझकर कह उठा—"भुवनमोहिनी! साम्राज्ञी से क्षमा-याचना कर मुझे अधिक लज्जित न करो। तुमने कोई अप-राध नहीं किया। सारा दोष मेरा है। मैंने तुम्हारे अतुल स्नेह

के प्रति भयानक अपराध किया है मैंने ही तुम्हारे समर्पित जीवन को कुचलकर नीरस बनाया है। मैं ही तुम्हारे मरु-जीवन में झण्झावत पैदा करने वाला भयानक स्वार्थी एवं लोलुप व्यक्ति सिद्ध हुआ हूँ। चलो, आज से मैं अपने पूर्व पापों का प्रायश्चित करूँगा। चन्द्रहासिनी साम्राज्ञी रहें, मुझे कोई आपत्ति नहीं किन्तु मैं स्वयं सम्राट पद का परित्याग कर तुम्हारे साथ राह-राह का भिखारी बनूँगा। मुझे नहीं चाहिए ऐसा उद्धत प्रेम, जो हमारी ही दृष्टि में हमारा अपमान करने पर तुल जाय। कुछ भी हो वे अन्ततः साम्राज्ञी भी एक नारी हैं। सर्वदा अवध्य-अदण्डनीय अस्तु मैं आज से ही साम्राज्ञी से दूर रहूँगा ताकि उन्हें किसी प्रकार हमारे प्रति क्षोभ न उत्पन्न हो।"

विजयश्रवा उसी क्षण भुवनमोहिनी को साथ लेकर वहाँ से उठ गया और अन्तःपुर के उस निवास स्थल को उस दिन से परित्याग कर दिया। विजयश्रवा भुवनमोहिनी के साथ आज उस भाग में जा पहुँचा जहाँ वह अपनी किशोरावस्था से लेकर सम्राट होने के समय तक रहता आया था। यह भाग राजप्रासाद का वही खण्ड था जो एक प्रकार कोलाहल से दूर-पूर्ण एकान्त था, जहाँ विजयश्रवा भुवनमोहिनी के साथ उसके चित्र को चित्रित करने के समय रहा करता था।

यद्यपि भुवनमोहिनी चुपचाप विजयश्रवा की छाया सी, उसी की उंगली का सहारा लेकर उसके साथ चली आयी थी किन्तु उसके हृदय में सर्प-दंशन जैसी तीव्र ज्वालामयी वेदना कसक उठी थी। एकांत में आते ही विजयश्रवा ने कहा—

"तुम्हें मेरी सौगन्ध है, तुम इस योगनी स्वरूप का परित्याग करो। एक बार पुन: मुझे उस स्नेह-वारुणी से उन्मत्त हो लेने दो जिसे पीकर मेरा जीवन हरा-भरा हो जाय। मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे जीवन में भयानक शून्यता बढ़ती जा रही है और मैं अपने को उसी नीरव शून्यता में विलीन करता जा रहा हूँ। राजकुमारी चन्द्रहासिनी अपने सौन्दर्य-मद में प्रतिक्षण पागल हो रही हैं और वे समर्पण का ढोंग रच कर भी प्रति क्षण मेरे द्वारा समर्पण की अपेक्षा करती आयी हैं। मैंने किसी प्रकार पाँच वर्ष अपने दाम्पत्य जीवन के नाम पर व्यतीत कर डाला है किन्तु चन्द्रहासिनी कभी भी सौंदर्योन्माद के जहरीले नशे से न बच सकीं। वे अपने आप में ही महानता की उपासिका हैं जबकि मैं अस्तित्व-हीनता का।

भुवनमोहिनी को ज्ञात हुआ जैसे विजयश्रवा आज भी उसी के नाम की माला जप रहा है किन्तु कर्त्तव्य, प्रेम एवं उत्सर्ग के प्रबल संघर्ष में वह इतना ही निश्चय कर सकी थी कि आत्मिक प्रेम की दीप-शिखा को अवश्य प्रज्वलित रखेगी किन्तु शारीरिक प्रेम या वासना के द्वारा विजयश्रवा को च्युत होने से रोकेगी किन्तु आज की घटना भुवनमोहिनी से अधिक विजयश्रवा को उद्वेलित कर रही थी।

अपने एकान्त में विजयश्रवा ने भुवनमोहिनी का हाथ पकड़ लिया किन्तु उफ़, आज भी भुवनमोहिनी के स्पर्श में वही मादकता, वही विद्युत तरंगें सी चपल भावनाओं का मायावी उन्माद, वही प्राणों में कम्पन एवं सिहरन पैदा करने वाली प्राकृतिक वासना का स्फुरण; जैसे आज भी भुवनमोहिनी ज्यों

की त्यों थी। अतृप्त शराबी की तरह विजयश्रवा की प्यास उमग उठी। उसे ज्ञात हुआ जैसे भुवनमोहिनी की वैराग्य प्रखर रूप की सरलता में अगणित रतियों का आकर्षण आज भी अवशेष है।

—"प्रेयसि !" सम्राट के पद की महत्ता को भूलते हुए विजयश्रवा बोला—"तुम्हें यह रूप-राशि इसलिए नहीं प्राप्त हुई थी कि मैं उसे देखकर आत्म विभोर हुआ करूँ, अप्राप्य की भाँति तुम्हें न प्राप्त कर सकने की छलना में जलूँ और निरन्तर जलता रहूँ ! बोलो ! भुवनमोहिनी"—उसकी ठोढ़ी को स्पर्श करते हुए वह पुनः बोला—"मैं चन्द्रहासिनी के रूप की उत्तप्त गरिमा को बुझा दूँगा—यदि तुम्हारा सम्बल प्राप्त हो। यदि तुम एक बार इस असमय के वैराग्य को ठुकरा सको अन्यथा यह अतृप्ति अनन्त जीवन की वासना बनकर मुझे क्षुब्ध करती रहेगी और मैं लुब्ध मधुप की भाँति तुम्हारे रूप की यश गाथा को मन ही मन गुनगुनाते हुये उद्भ्रांत बना रहूँगा। मुझे चाहिए तृप्ति, मुझे चाहिए तुम्हारे अक्षय यौवन के उपभोग की पूर्ण स्वीकृति अन्यथा मैं मानिनी चन्द्रहासिनी के साम्राज्य को तुच्छ की भाँति ठुकरा दूँगा। चन्द्रहासिनी को चाहिए सत्ता और शक्ति—वह मैं उसे स्वेच्छा से प्रदान कर विरक्त हो जाऊँगा। आज चन्द्रहासिनी की गोद में साम्राज्य के सिंहासन का प्रतिनिधि खेल रहा है। वह उसी के रंग में रंग कर मुझे भूल सकती है, और मेरी उपेक्षा भी कर सकती है किन्तु तुम बोलो ! क्या, तुम भी मेरी उपेक्षा ही करना चाहती हो ? क्या तुम भी मेरे जीवन में छलना मात्र सिद्ध होगी ?"

विजयश्रवा के होंठ भावनाओं के उद्वेग से फड़कने लगे उसने भुवनमोहिनी को अपने कठोर पाश से जकड़ कर वक्ष: स्थल से चिपका लिया। भुवनमोहिनी भयभीता सी विजयश्रवा के मदोन्मत्त मुखड़े को शून्य दृष्टि से देखती रही—जैसे उसके कर्त्तव्या-कर्त्तव्य की निर्णयात्मिका बुद्धि शून्य हो चुकी हो। उसकी दृष्टि में आसक्ति नहीं मृत्यु की शून्यता झाँक रही थी।

अपने बाहुपाश में जकड़े हुए विजयश्रवा ने भुवनमोहिनी से पूछा—"प्रिये ! तुम मुझसे घृणा करती हो।

—"नहीं !"

—तुम मुझसे दूर भागना चाहती हो ?

—"नहीं !"

—"तुम्हें मेरी वासनात्मक वृत्तियों के प्रति रोष है !"

—"नहीं, ये वृतियाँ भी अस्वाभाविक नहीं हैं।

—"क्या कभी तुमने अन्तर के निगूढ़तम प्रकोष्ठ में मेरी मूर्ति बिठाकर कभी पश्चाताप करना चाहा है ?"

—नहीं !

—क्या कभी तुमने मेरे लिये सर्वस्व उत्सर्ग न करने की शपथ ली थी ?

—कभी नहीं।

—क्या कभी मेरी आसक्ति पर तुम्हें भय या रोष उत्पन्न हुआ था ?

—कभी नहीं !

—क्या तुम मुझे सदैव देवत्व पर प्रतिष्ठित रखने की भावना से बोझिल रही हो ?

—कभी नहीं, देव ! मैं भली भाँति समझती हूँ कि मनुष्यत्व ही मानव जीवन का स्वाभाविक धर्म है।

—क्या कभी तुम्हें चन्द्रहासिनी के जीवन-संगिनी बनाने पर आन्तरिक क्षोभ हुआ है ?

—कभी नहीं !

—तब ! तब मायाविनी सच सच कहो ! मेरी छाया से ही भयभीता बनकर मुझसे दूर क्यों भागती रही हो ? क्या मुझसे प्रेम करने का तुम्हारा हार्दिक उल्लास मर चुका था !

—नहीं, किन्तु…………

कुछ कहने जाकर भी भुवनमोहिनी कह न सकी। वह भयभीता सी अनन्त आकाश में विचरण करते हुये मेघमालाओं को देखती रही। विजयश्रवा अपने अङ्क में लपेटे हुए भुवनमोहिनी को जैसे एक ही अतृप्त घूँट में पी जाना चाहता था और भुवनमोहिनी विजयश्रवा की गोद में अर्द्ध उन्मीलित दृष्टि द्वारा जीवन का मधुर वरदान पाकर भी जैसे मन ही मन कल्पना कर रही थी कि वह चन्द्रहासिनी को छिपा कर पाप कर रही है।

कुछ क्षणों तक वे युगुल प्राणी भावनाओं के अंतर मंथन पर गंभीरतापूर्वक सोचते रहे। विजयश्रवा पुनः बोला—"तुम्हें मेरी सौगन्ध है, मुझसे गोपनीय बनकर रहने की धृष्टता न करो। मैंने तुम्हारे सम्मुख अपना अंतरपट खोलकर रख दिया है। मैं तुम्हें पाप-पुण्य की भावना से विलग रखकर प्यार करता रहा हूँ। आज मैं प्यार के बदले में प्यार चाहता हूँ।

—"और आप प्यार के बदले में प्यार पा रहे हैं—आज भुवनमोहिनी आपकी गोद में अल्हड़ बालक सी मचल रही है।" नेत्रों में अङ्गार भरे हुए शयन कक्ष से झाँकती हुई चन्द्रहासिनी बोली।

भुवनमोहिनी पर मानों वज्र गिर पड़ा। वह शीघ्रतापूर्वक विजयश्रवा की गोद से उठने की चेष्टा करके भी उठ न पाई। विजयश्रवा ने बलपूर्वक उसे गोद में चुपकाये रक्खा किन्तु चन्द्रहासिनी की उपस्थिति ने उसके नेत्रों में रुद्र की क्रोधाग्नि प्रज्वलित कर दी। वह जो कुछ भुवनमोहिनी से पूछना चाहता था, उसी में चंद्रहासिनी ने बाधा पहुँचाई थी अस्तु वह बादलों सा गरजता हुआ गम्भीर वाणी में बोला—"साम्राज्ञी! तुमने मेरे एकान्त में पहुँच कर भीषण अपराध किया है। सावधान! तुम्हें अपने किये का दण्ड भोगना ही पड़ेगा! देखो नेत्रों में आग भर कर देखो, आज से मेरी गोद में प्रणय लीला रचाने वाली भुवनमोहिनी पुनः प्रतिष्ठित हो चुकी है। तुमने मुझसे जो प्रणय दान चाहा था, वह भी भुवनमोहिनी का उच्छिष्ट था। भुवनमोहिनी की अनिच्छा देख कर भी, मैं, उसे अपने प्रेम-दान से विभूषित करूँगा।

चन्द्रहासिनी की दृष्टि के सामने ही विजयश्रवा ने उसके कपोलों पर प्रणय-चिन्ह अंकित कर दिया और तब उसे अपने बाहु पाश से मुक्त करता हुआ विजयश्रवा उठ खड़ा हुआ।

भुवनमोहिनी को छोड़कर विजयश्रवा चन्द्रहासिनी की ओर बढ़ा और भुवनमोहिनी राज-प्रासाद से निकल कर अपने वैभवपूर्ण गृह की ओर मुड़ी। वह अपने शयन-कक्ष में जाकर

भावना-विहीन सी शून्य में गड़ गई किन्तु उसके उद्वेलित हृदय में गम्भीर भावना तरंगें तूफान उठाने लगीं। वह अपने आप में खोई हुई—अपने आप ही कहने लगी—

"हे मेरे जीवन के शत-शत, सहस्र, लक्ष विद्रोह के स्फुलिङ्गों! तुम एक बार एकाकार होकर, धू-धू की प्रलय-ङ्कारी महा ज्वाल बन कर धधक उठो। असीम वेदनाएँ, अगणित निराशाएँ, तीव्र जलन एवं घोर हाहाकार जीवन को इतना रुला चुका है कि अब आँसू सूख गये हैं। विद्रोह प्रबल हो उठा है। हमारी रग-रग में एक ज्योति जलने लगी है। जीवन चाहता है कि उसी में भस्म हो जायें। मुट्ठी भर राख के अतिरिक्त कोई अवशेष न बचो। "अपने भौतिक अस्तित्व पर अभिमान करने वालों को मैं बता जाऊँ कि कैसे मरना होता है।"

भुनवमोहिनीं अति निराश दृष्टि से ससस्त सृष्टि चक्र को घूमता हुआ देखती रही। विपाद की अमाँ का अन्धकार उसकी दृष्टि में छा गया। वह बोली—"आत्म हनन करके उसने जो पुण्य कमाया था, वह तो मानों आत्म-छल था। वह सर्वदा अपने आपको धोका देती रही। किन्तु आज अन्तर्तारों में से जो चीत्कार प्रतिध्वनित हो रहा है, वह मानों करुणा सागर में जीवन की समाधि लगा देगा।

उसने उमड़ते हुए श्रावण के अश्रु-वारिदों को देख कर जान लिया कि किन करुण धाराओं में जीवन को डूब जाना है! सब कुछ है—वह आगे सोचने लगी—चन्द्रहासिनी के लिए उसे अपना सुख परित्याग करना पड़ा था, चन्द्रहासिनो के लिए दान

कर डाला था—अपने प्रियतम प्रणय के अनन्त वसन्तों को ! यदि वह समझ पाती कि अनन्त वसन्तों के प्रतिदान का परिणाम आँसुओं में जीवन को विगलित कर देना है तो वह क्यों अपने मिलन भरे वसन्त में अपनी इच्छा से पतझड़ लाती । काश, वह न समझती कि प्रेम की पीड़ा से छटपटाने वाली एक सुन्दरी राजकुमारी ने उसके ऋतुराज को छीन कर अपना वसन्त मनाया है किन्तु आज उसने चन्द्रहासिनी की दृष्टि में प्रेम की जिस असहिष्णुता का दर्शन किया था, वह मानों भुवनमोहिनी के प्रणय की प्रतिस्पर्धिनी बन कर उग्र प्रतिकार के लिए तत्पर थी किन्तु दूसरी ओर भुवनमोहिनी विचार कर रही थी विजयश्रवा की उस आकुलता को, जो घुन सी उसके प्रियतम को जीवन की सुख-शान्ति एवं समृद्धि को चूर-चूर कर रही थी। चन्द्रहासिनी का नग्न स्वरूप उसकी दृष्टि में नाच रहा था। एक अकृतज्ञ नारी की तुच्छ आत्मा चन्द्रहासिनी जैसी साम्राज्ञी के अन्तःकरण में विराज चुकी थी ।

भुवनमोहिनी के सामने दो प्रश्न थे—(१) या तो वह चन्द्रहासिनी की सर्वत्र उपेक्षा करके विजयश्रवा के जीवन को मधुमय बसन्त के मादक हिलोरों से भर दे और या (२) वह अपने जीवन का अंत करके चन्द्रहासिनी के लिए सर्वस्व उत्सर्ग कर जावे ।

यह तो निश्चय था कि भुवनमोहिनी को अपने जीवन के प्रति न कोई ममत्व था और न कोई आसक्ति किन्तु उसके सूने एवं वैराग्य पूर्ण जीवन में विजयश्रवा अप्राप्य प्रणय-सुख की मादकता बिखेरने चला था, वह केवल भुवनमोहिनी के

जोवन से सम्बद्ध न था, वल्कि स्वयं विजयश्रवा भी दीर्घकाल से उसी सुख की प्रतीक्षा करता आया था ।

यदि चन्द्रहासिनी केवल मात्र भुवनमोहिनी के प्रति असहिष्णु होती तब तो वह सब प्रकार से क्षम्य थी किंतु जिस अधोरता एवं उद्धतपने का सहारा लेकर वह विजयश्रवा की भावनाओं को ठुकराने चली थी, वह एक पति-परायण नारी की चारित्रिक महत्ता का अभिशाप सिद्ध हो रहा था ।

अन्त में भुवनमोहनी ने यही निश्चय किया कि एक बार वह विजयश्रवा के जीवन में सरस बसन्त अनुप्राणित करने का प्रयास करेगी, भले ही उसे चन्द्रहासिनी की कोपाग्नि में भस्म ही क्यों न होना पड़े ।

इधर विजयश्रवा भुवनमोहिनी को छोड़कर चन्द्रहासिनी का पीछा करता हुआ अन्तःपुर के उस भाग में पहुँचा, जहाँ साम्राज्ञी का बासस्थान था । विजयश्रवा ने जाते ही समस्त परिचारिकाओं एवं सेवकनियों को चन्द्रहासिनी के महल से दूर जाने की आज्ञा दी ।

सभी सेवकनियों एवं परिचारिकाओं ने विजयश्रवा का वह उग्र रूप देखा जो उन्होंने आज से पूर्व कभी न देखा था । फड़कते हुए वृषभ कन्ध एवं सुदीर्घ लोहित नेत्र मानो विजयश्रवा के स्वरूप की मधुरिमा का शोषण कर चुके थे । उसके रक्ताभ मुख से क्रोधाग्नि की चिनगारियाँ चमक रही थीं । समस्त राज-प्रासाद में मृत्यु की सी शान्ति विराज रही थी ।

विजयश्रवा चन्द्रहासिनी के सम्मुख जाकर इस प्रकार

खड़ा हो गया जैसे वह साकार क्रोध की प्रतिमा हो। चन्द्रहासिनी ने वास्तव में विजयश्रवा का यह स्वरूप देखा ही न था और न वह यह अनुमान कर सकी थी कि उसकी धृष्टता विजयश्रवा को इस प्रकार भयानक बना देगी।

वह भय विह्वल नेत्रों से पति को देखती रही। उसे कुछ न सूझ पड़ा। विजयश्रवा का क्रोध कम्पित गात देखकर चन्द्रहासिनी की दृष्टि दया की भीख माँगने लगी। विजयश्रवा जैसे क्षमा प्रदान करने नहीं आया था। वह चन्द्रहासिनी को वक्र दृष्टि से देखता हुआ बोला—"मैंने तुम्हें साम्राज्ञी के पद पर प्रतिष्ठित करके भयानक भूल की है। मैं आज तुम्हें दण्ड देने आया हूँ। बोलो, तुम्हें क्या दण्ड दिया जाय?

चन्द्रहासिनी कांपने लगी। विजयश्रवा बोला—"सुन्दरी राजकुमारी। मैं तुम्हें शारीरिक दण्ड न देकर मानसिक दण्ड दूँगा। तुम एक अकृतज्ञ नारी हो। जाओ, आज से तुम साम्राज्ञी पद से वंचित की जा रही हो। मैं आज ही आदेश भेजूंगा कि समस्त साम्राज्य की प्रजा तुम्हें राजकुमारी चन्द्रहासिनी के नाम से सम्बोधित करे।

चन्द्रहासिनी कोई प्रतिवाद न कर सकी। उसका हृदय भीषण अपमान की आग से धधकने लगा किन्तु विजयश्रवा का भय उसे बाध्य कर रहा था कि वह चुपचाप इस अपमान को विष के घूँट की भाँति पी जाय।

विजयश्रवा पुनः बोला—"तुम्हें मेरा राज-प्रासाद भी परित्याग करना होगा। तुम्हें राजकुमारी होने का गर्व है

अस्तु जाओ, महाराज आदित्यसेन की लाड़िली बन कर इन्द्रप्रस्थ के राजमहल को सुशोभित करो। तुम जैसी मानिनी के लिए धारा नगरी के राज-प्रासाद में कोई स्थान नहीं है।"

चन्द्रहासिनी के पावों के नीचे की भूमि भी खिसकती सी प्रतीत होने लगी। यद्यपि वह महाराज आदित्यसेन की इकलौती सन्तान थी, और सत्ता बल एवं ऐश्वर्य में इन्द्रप्रस्थ नरेश कुछ ही कम थे, फिर भी भारत के सम्राट न थे और सबसे बड़े अपमान की बात तो यह थी कि विजयश्रवा आदेश के रूप में साम्राज्य भर में प्रचारित करने का सङ्कल्प कर चुका था कि चन्द्रहासिनी भारतीय सम्राट की साम्राज्ञी नहीं रहेगी। उसके सम्मान के लिए उसके नाम के आगे केवल राजकुमारी शब्द का प्रयोग होगा।

आकाश से पतित होने वाले नक्षत्र की भाँति चन्द्रहासिनी अपने महानतम पद से च्युत कर दी गयी। आह! उसके लिए कितना ग्लानिपूर्ण एवं अपमान से भरा आदेश था फिर भी वह जन-प्रिय भारत सम्राट का आदेश था जो सर्वदा अपरि-वर्तनीय एवं अनुल्लंघनीय था।

विजयश्रवा के नेत्रों से क्रोधाग्नि की ज्वालाएँ फूटकर समस्त वातावरण में भय, बेबसी एवं अनुताप उत्पन्न कर चुकी थीं किन्तु प्रतिकार का कोई उपाय न था।

विजयश्रवा मुड़ा और मुड़कर जाना ही चाहता था कि सहसा चन्द्रहासिनी अचेत होकर गिर पड़ी। वह उसे उसी अवस्था में छोड़कर आगे बढ़ा जहाँ उसकी परिचारिकाएँ अधीर मन से सम्राट के लौटने की प्रतीक्षा कर रही थीं।

विजयश्रवा ने राजकुमारी की संरक्षिका को ग्रादेश दिया कि चौबीस घन्टों के भीतर चन्द्रहासिनी धारा नगरी के ग्रन्त: पुर का परित्याग कर दे।

विजयश्रवा तो लौट चला किन्तु चन्द्रहासिनी की समस्त परिचारिकाएँ ऐसा कठोर ग्रादेश सुनकर काठ मार गयीं। बिना किसी से एक भी शब्द बोले, वे सब चन्द्रहासिनी की ग्रोर लौटीं ग्रौर उसे ग्रचेत देखकर पुनश्चेतना लौटाने का उपचार करने लगीं किन्तु सभी ग्रपने-ग्रपने मन में सम्राट के कठोर ग्रादेश पर विचार करती हुई सोच रही थीं कि साम्राज्ञी से ऐसा कौन सा ग्रक्षम्य ग्रपराध बन पड़ा है जिसके कारण सम्राट इतने रुष्ट हैं।

ज्यों-त्यों करके चन्द्रहासिनी ने खोयी हुई ग्रात्मचेतना प्राप्त की किन्तु संरक्षिका ने सम्राट के उस कठोर ग्रादेश को सूचित किया जो उन्होंने चन्द्रहासिनी के सम्बन्ध में संरक्षिका से कहा था।

ग्रब तो चन्द्रहासिनी को ज्ञात हुग्रा कि सम्राट के ग्रन्त: पुर में उसके निवास करने तक का ग्रादेश नहीं है।

चन्द्रहासिनी ने यह कभी न जाना था कि विजयश्रवा ग्रपनी एक मात्र साम्राज्ञी-रानी-पटरानी के निर्वासन की कठोर ग्राज्ञा प्रदान करेगा।

उसे कुछ न सूझा—उसने ग्रपनी परिचारिकाग्रों एवं सेवकों को ग्रादेश दिया कि वे सब इन्द्रप्रस्थ की यात्रा के लिए रवाना हों।

ग्रन्तिम बार पूर्ण चेतना प्राप्त कर सकने पर चन्द्रहासिनी

अपनी सास से विदा माँगने चली। चन्द्रहासिनी ने अथ से इति तक का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। पुत्र के ऐसे कठोर आदेश को सुनकर राज-माता स्तब्ध रह गयीं किन्तु अनाथिनी की भाँति वे पुत्र-वधू के निर्वासन को नहीं सहन कर सकती थीं और सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि चन्द्रहासिनी को राज-माता का अतुल प्यार प्रारम्भ ही से प्राप्त हो चुका था और चन्द्रहासिनी भी राजमाता की स्वयं सेवा किया करती थी।

राजमाता ने कहा—"बेटी! मेरा एक मात्र पुत्र ही आज भारत का सम्राट है। जब उसके पिता सम्राट ने भुवनमोहिनी को निर्वासित किया था और मैंने भी पुत्र को अपमानित किया था तब उसने राजसिंहासन एवं राजैश्वर्य का मोह छोड़कर भुवनमोहिनी के लिए सबसे नाता तोड़ लिया था। दूसरे भुवनमोहिनी ने स्वयं तुम्हारे लिए जो कुछ किया, वह अन्य स्त्री से आशा नहीं की जा सकती थी। अन्त में स्वयं सम्राट ने उसे क्षमा कर दिया था। आगे चलकर भुवनमोहिनी ने अपने को नर्त्तकी के स्थान पर वीराङ्गना सिद्ध कर दिखाया। वह सहस्रों-लक्षों भारतीय महिलाओं के सतीत्व को अक्षुण्ण रखने के यश की भागिनी बन चुकी है और सब से बड़ी बात यह कि उसने स्वयं तुम्हारे दाम्पत्य जीवन का मार्ग खोल दिया था। बेटी! तुमसे अपराध हुआ है किन्तु चलो, मैं तुम्हारे अपराधों की क्षमा याचना करूँगी।

विजयश्रवा चन्द्रहासिनी के समीप से जब लौटा तब भुवनमोहिनी जा चुकी थी। वह घृणा क्रोध एवं पश्चाताप

में डूबा हुआ अशान्त हो रहा था। सहसा अपने सामने माता और उनके पीछे-पीछे अपराधिनी पत्नी को देख कर बड़ी विपत्ति में पड़ गया। राजमाता ने स्नेह भरे शब्दों में कहा-- "भारत के सम्राट ! आज तुम्हारी माता भी तुम्हारे सम्राट-पद की महत्ता के समक्ष नत-मस्तक है ! क्या तुम चाहोगे कि तुम्हारी वृद्धा माता पुत्र वधू के होते हुए भी कष्ट झेले ?

—"नहीं माँ ! अपराधी सा विजयश्रवा बोला--क्या मैंने तुम्हें कोई कष्ट दिया है ?"

--न मेरे राजकुमार !

--तब फिर !

--क्या कहूँ ! तुमने पुत्र-वधू को निर्वासित किया है। मेरी गोद से मेरा पौत्र छीनना चाहा है जो इस राजसिंहासन का शृंगार है। जानते हो ! सर्वदा चन्द्रहासिनी मेरी सेवा में तत्पर रही है। सर्वदा अपने पौत्र का मुख चुम्बन कर के मैंने वृद्धावस्था के कष्टों को भुलाने की चेष्टा की है। आज सम्राट का आदेश मेरी गोद से मेरा पौत्र और मेरी दृष्टि से प्रेम की मूर्त्ति पुत्र-वधू को छीन रहा है वह आदेश देने वाला सम्राट मेरा ही हृदय-पिण्ड है। मैं अब जीना नहीं चाहती। तुम्हारे पिता को भी इस प्रकार पौत्र एवं पुत्र-वधू के वियोग के कारण अपार कष्ट झेलना पड़ेगा।

विजयश्रवा यह तो जानता ही था कि चन्द्रहासिनी वास्तव में उसके माता की तन-मन से सेवा करती थी और उसी के

चिरंजीव राजकुमार को अपनी गोद में खिलाकर वे वृद्ध दम्पति अपने असमर्थ जीवन को सुखमय बना रखते थे।

वह अपराधी-सा माता को देखता रहा। राजमाता समझ गयीं कि उनकी बातें विजयश्रवा के हृदय में पर्याप्त प्रभाव डाल चुकी हैं और मन ही मन चन्द्रहासिनो को भी कुछ ढाढ़स बंधा।

राजमाता ने कहा—"मेरे लाल ! मेरी आज्ञा है कि हम दोनों बूढ़ों के जीवन काल तक न तो हमारी पुत्र-वधू हमारी दृष्टि से बाहर होगी और मेरा फूल-सा कोमल पौत्र ही हमारी गोद से छीना जायगा।"

—"अच्छा ऐसा ही होगा, माँ ! किन्तु एक शर्त है।"

—वह क्या ?

—राजकुमारी चन्द्रहासिनी मेरी दृष्टि के सम्मुख नहीं आवेंगी—अब वे मेरे स्थान पर सत्ता एवं शक्ति की पुजारिणी बन गयी हैं।"

विजयश्रवा माता के सम्मुख आते ही सौम्य बन गया। राजमाता पुनः बोली—"मेरे लाल ! तुम मेरी दृष्टि के बाहर भारत के सम्राट हो किन्तु मेरे अपने घर में मेरे एक मात्र पुत्र—मेरे जीवन के एक मात्र सहारे हो। मैं तुम्हीं से पूछती हूँ कि चन्द्रहासिनी क्या मुख लेकर महाराज आदित्यसेन के पास जायगी ? उसकी वहाँ पर आवश्यकता ही क्या है। उसके सर्वस्व तो तुम्हीं बन चुके हो मेरे लाल ! लाख-अपराध

करने पर भी वह भारत सम्राट की साम्राज्ञी घोषित हो चुकी है वह मृत्यु के पश्चात साम्राज्ञी पद से अपदस्थ होगी। बेटा ! मैं जानती हूँ तुमने एक दिन अग्नि, देवता, सूर्य, चन्द्र एवं माता-पिता तुल्य गुरु-जनों के समक्ष अपनी प्रियतमा जीवनसंगिनी के रूप में चन्द्रहासिनी को स्वीकार किया था। उसके बड़े-बड़े अपराध क्षमा करने का वचन-दान भी दिया था। आज उसके अधिकारों के संरक्षण की मैं दुहाई देती हूँ। मेरे हृदय के टुकड़े। इस कोमल फूल सी नारी को अपनी क्रोधाग्नि में झुलसने से बचा लो।"

राजमाता का सम्बल पाकर चन्द्रहासिनी के हृदय में स्त्रीत्व का पवित्र कर्तव्य जाग उठा। उसके हृदय ने भी धिक्कारा कि उसने भुवनमोहिनी के द्वेष के कारण पति को भी अपमानित किया है। वह राजमाता के समक्ष पति के चरणों में गिरकर इतना ही कह सकी—"नाथ ! मेरे अप-राध क्षमा हों !

चन्द्रहासिनी की अश्रु-धारा ने विजयश्रवा के चरणों का आभिसिञ्चन करना प्रारम्भ कर दिया। वह माता की उपेक्षा न कर सका फिर भी व्यङ्ग से बोला—"राजकुमारी ! यह क्या करती हो ? मेरे पाँवों में गिरना तुम्हें शोभा नहीं देता। मेरा परित्याग करो और जाओ सत्ता एवं शक्ति की पूजा करो। तुम पर स्वयं राजमाता प्रसन्न हैं ऐसी अवस्था में मेरे आदेशों का मूल्य ही क्या है ? माता की आज्ञा एवं आग्रह पर मैं उन्हें रद्द करता हूँ किन्तु ध्यान रहे—अब हमारा

तुम्हारा पार्थिव सम्बन्ध सर्वदा के लिए छिन्न-भिन्न हो चुका है।

विजयश्रवा राजमाता की ओर सदय दृष्टि से देखकर बोला—"माँ ! मैं एकान्त चाहता हूँ। मुझे आज्ञा हो, मैं अपने सूने राजमहल में एक रात और विश्राम कर लूँ। यदि चन्द्रहासिनी का रहना अनिवार्य है तो मैं ही जाऊँगा। यह राजसिंहासन मेरा भी नहीं राजसिंहासन पर चन्द्रहासिनी के पुत्र का उतराधिकार पूर्ण अधिकार है। मैं सर्वस्व उस उतराधिकारी के लिए चन्द्रहासिनी के संरक्षण में छोड़कर जाऊँगा। आज से मैं सम्राट नहीं, केवल चन्द्रहासिनी साम्राज्ञी है। मैं केवल राजसिंहासन के प्रति अपना कर्तव्य उदासीन भाव से तब-तक करता रहूँगा, जब तक कि चन्द्रहासिनी का पुत्र योग्य नहीं बन जाता। इसके पश्चात मेरा जीवन···

विजयश्रवा आगे कुछ कह न सका। राजमाता स्वयं विजयश्रवा के कठोर स्वभाव से भली-भाँति परिचित थीं। अस्तु वे चुप रहीं। धीरे से विजयश्रवा ने अपना पाँव राजकुमारी के हाथों से छुड़ा लिया और यह कहता हुआ चल पड़ा—"उचित नहीं कि भारत की साम्राज्ञी मुझ जैसे तुच्छ मनुष्य के चरणों में निरीह अबला की तरह पड़ी रहे। शक्ति एवं सत्ता की उपासिका अपना साम्राज्य संभाले।"

विजयश्रवा चल पड़ा। राजमाता एवं चन्द्रहासिनी शून्य दृष्टि से उसे देखती रह गयीं। जब विजयश्रवा दृष्टि से ओझल

हो गया, तब राजमाता ने एक कसक भरी आह खींचकर कहा—"यह और भी बुरा हुआ।"

चन्द्रहासिनी अपराधिनी सी राजमाता के सम्मुख खड़ी रहीं। राजमाता भगवान से प्रार्थना करते हुए बोलीं—"मेरे पुत्र के ऐसे संकल्पों को शिथिल कर दो, नाथ! मैं अपनी वृद्धावस्था दुखिया पुत्र-वधू को देखकर कैसे बिताऊँगी? "अच्छा!" कुछ सोचती हुई राजमाता बोलीं—"कोई भृत्य जाकर भुवनमोहिनी को मेरे पास बुला लाये। जो कुछ मैं अकेली होते हुए नहीं कर सकती, वह भुवनमोहिनी की सहायता द्वारा पूरा कराऊँगी।

भुवनमोहिनी का अपने दामपत्य एवं गृहस्थ्य जीवन में अतुल प्रभाव देखकर चन्द्रहासिनी का मन प्रायः अशान्त हो जाया करता था इसी हेतु उसने धृष्टता पूर्वक उसे सम्राट की उपस्थिति में अपमानित किया था, बिना यह अनुमान लगाये कि इस प्रकार के धृष्टतापूर्वक कार्य का कैसा भयङ्कर परिणाम होगा?

जब राजमाता ने भुवनमोहिनी को अन्तःपुर में बुला भेजा तब चन्द्रहासिनी लज्जित होते हुए अनुभव करती रही कि वह अपने पति के ऊपर उतना भी प्रभाव नहीं डाल सकती जितना भुवनमोहिनी का इस राज-परिवार में है।

अभी कुछ ही घण्टे पूर्व राज-प्रासाद से भुवनमोहिनी लौटी थी और अपने तथा विजयश्रवा के उस अटूट प्रेम सम्बन्ध के

विपय में सोच ही रही थी कि भविष्य में उसे कैसा आचरण करना चाहिए जिससे विजयश्रवा का हृदय उसके व्यवहारों के प्रति चीत्कार न करे और चन्द्रहासिनी भी सन्तुष्ट रहे।

किन्तु ज्योंही एक भृत्य ने आकर राजमाता द्वारा बुलाये जाने का सन्देशा सुनाया, भुवनमोहिनी घबरा उठी। उसे ज्ञात हुआ जैसे उसकी अनुपस्थिति में विजयश्रवा ने कोई अनिच्छित घटना घटित कर दी हो।

वह दूत के साथ उन्हीं पाँवों लौट चली। बाहर रथ उसकी प्रतीक्षा में खड़ा था। भुवनमोहिनी शीघ्रतापूर्वक रथारूढ़ होकर अन्त:पुर के प्रवेश द्वार तक पहुँची। ज्योंही उसने भीतर प्रवेश किया, उसे अनुभव होने लगा, जैसे किसी अशुभ मुहूर्त ने राज-प्रासाद में अपना निवास स्थान बना लिया हो।

राजमाता के समीप चन्द्रहासिनी के अतिरिक्त अन्य कोई न था। परिचारिकाएँ वहाँ से दूर-दूर अपना कार्य करती हुई राजमाता के आदेश की प्रतीक्षा किया करती थीं। भुवन-मोहिनी के आते ही राजमाता ने शुरू से अंत तक की सम्पूर्ण बातें बतला कर पूछा—"अब क्या हो भुवनमोहिनी ! मैं बड़े असमञ्जस में पड़ गयी हूँ। यदि राजकुमार को मैं सम्राट के रूप में न भी मानूँ तो भी समस्या का समाधान नहीं हो पाता। वह सम्राट पद पर आसीन नहीं रहना चाहता। उसने समस्त शक्ति एवं सत्ता को स्वेच्छा से छोड़कर राज-प्रासाद से बाहर रहने की प्रतिज्ञा ठान ली है किन्तु मैं सोचती हूँ कि चन्द्र-हासिनी सत्ता एवं शक्ति को लेकर क्या करेगी ? जिसकी

प्रियता प्राप्त किये रहने पर सत्ता एवं शक्ति चन्द्रहासिनी का चरण-चुम्बन करतीं वह तो उससे पूर्णतः रुष्ट है। उसका आदेश है कि चन्द्रहासिनी उसकी दृष्टि के सामने न आये। एक प्रकार से पति के रूठे रहने पर सत्ता एवं शक्ति चन्द्रहासिनी के जीवन को सुखी न बना सकेंगी। यह तो वास्तव में चन्द्र-हासिनी का सौभाग्य था कि तुम्हारी कृपा के द्वारा वह राज-कुमार की जीवन सङ्गिनी बनने का अधिकार प्राप्त कर सकी किन्तु चन्द्रहासिनी यह अनुमान लगा सकी थी कि मेरे इक-लौते राजकुमार के जीवन पर तुम्हारा कैसा प्रभाव है ?

भुवनमोहिनी बोली—"मैं निवेदन करती हूँ कि राजमाता अपने पवित्र मुख से मुझ नर्तकी के प्रभाव का यशोगान न करें। मैं सेवा में प्रस्तुत हूँ। मुझे आदेश प्राप्त होने चाहिए कि मुझे क्या करना होगा ?

—"क्या करना होगा ?" यही तो विकट पहेली है जिसे मैं नहीं, तुम्हें सुलझाना होगा। न जाने जन्मान्तरों के किन सञ्चित पुण्यों ने एक सम्राट के हृदय-सिंहासन पर तुम्हें प्रति-ष्ठित कर दिया है। मुझे विश्वास है कि इस कठिन समस्या को तुम्हीं सुलझा सकती हो।"

चन्द्रहासिनी अपराधिनी सी, ऐसी, विनय भरी सदय दृष्टि से भुवनमोहिनी को देख रही थी जैसे किसी बधिक के भय से चकित हिरणी किसी दैवी सहायता की अपेक्षा करती है। वह स्वयं कह उठी—"बहन ! मैं अपनी दुर्भाग्यपूर्ण घड़ी को क्या कहूँ ? वास्तव में मैंने तुम्हारे प्रति जिस अकृतज्ञतापूर्ण व्यव-

हार का प्रदर्शन किया है, उसी ने सम्राट को रुष्ट कर दिया है मैं क्या कर सकती हूँ ? यदि एक बार मुझ पर और दया करो तो मैं आजन्म ऐसी भूल नहीं करूँगी ।"

ओस से भीगे कमल-दल की भाँति चन्द्रहासिनी के नेत्र गीले थे । वह आज आत्म-रक्षा की याचना भुवनमोहिनी से कर रही थी । भुवनमोहिनी के अनुपस्थित रहने पर विजयश्रवा ने जो कुछ कर डाला था, उसके परिवर्तन कराने की क्षमता वह अपने में न पाती थी । फिर भी राजमाता का आग्रह एवं राज-कुमारी की दीन-दशा देखकर भुवनमोहिनी उनका कष्ट टालने के लिये उद्विग्न अवश्य थी । वह सर्वदा अपने विरोधियों को स्नेह एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार द्वारा जीत लेती थी ।

उसने राजमाता की ओर देखते हुए चन्द्रहासिनी से कहा—"मैं उनकी सेवा में उपस्थित होने जा रही हूँ । नहीं जानती कि मेरी उपस्थिति से रुष्ट होंगे या प्रसन्न किन्तु एकाध घड़ी पश्चात् साम्राज्ञी अवश्य पधारें ।"

कँपती वाणी में चन्द्रहासिनी बोली—"बहन ! मुझे दृष्टि के सम्मुख आने-जाने का आदेश नहीं है । वे सम्भवतः आज का दिन एकान्त वास करेंगे और फिर मेरे कारण राज-प्रासाद से कहीं दूर रहेंगे ।"

—"कुछ भी हो साम्राज्ञी ! वहाँ पर आप अवश्य आवें !"

—"ठीक तो है" राजमाता ने कहा,—भुवनमोहिनी मेरे

रूठे राजकुमार को मना लेने की क्षमता रखती है।"

—"जो आज्ञा !"

चन्द्रहासिनी जड़वत् राजमाता के पास बैठी रही और इधर से भुवनमोहिनी खोजती हुई उस एकान्त स्थल में जा पहुँची जहाँ एकाकी एवं अशान्त मन से विजयश्रवा टहल रहा था। भुवनमोहिनी को देखते ही विजयश्रवा कुछ-कुछ अपने संयम पूर्ण विचारों की ओर लौटने लगा।

भुवनमोहिनी से विजयश्रवा की मनोभावना छिपी न रह सकी। उसने विनम्र अभिवादन करते हुए प्रार्थना की—"देव ! अपराध क्षमा हों। मैं यह जानते हुए भी अभी देव इस स्थल में एकाकी ही रहना चाहते थे, दुस्साहस पूर्वक चली आयी हूँ !"

विजयश्रवा मधुर शब्दों में बोला—"तुम्हें मेरे समीप आने में कभी किसी क्षण कोई विचार न लाना चाहिए। विजयश्रवा का एकान्त जीवन ही तुम्हारी एकान्त चिन्तना का मन्दिर है। तुम्हें मेरे समीप आने में कभी किसी बाधा का अनुभव न करना चाहिए।

—नाथ ! मैं एक तुच्छ नारी हूँ। भारत सम्राट की कृपा दृष्टि यूँ ही बनी रहे, इससे अधिक सौभाग्य और क्या हो सकता है। फिर भी आज की बातें मुझे बहुत अधिक पीड़ित कर रही हैं।

—क्यों ? गम्भीर मुखाकृति से विजयश्रवा ने प्रश्न किया ।

—इसलिए कि मैं ही वास्तव में चन्द्रहासिनी के नारित्व का अधिकार अपहरण करते हुए पायी गई हूँ । यदि राजकुमारी को मुझ पर असाधारण क्रोध उत्पन्न भी हुआ था, तब भी देव को मेरा पक्ष लेकर, उन्हें दण्डित करना उचित न था। सम्पूर्ण अपराधों की पृष्ठ भूमि तो मैं हूं ।"

—"नहीं !" विजयश्रवा तुम्हें अपमानित होते नहीं देखना चाहता । जब मेरे जीवन में चन्द्रहासिनी का कोई अस्तित्व न था, तब भी तुम्हारी प्रतिमा मेरे अन्तस्तल में प्रतिष्ठित थी । मैंने चन्द्रहासिनी को छिपा कर तुमसे प्रेम नहीं किया । मैंने वैवाहिक सम्बन्धों पर होने वाली चर्चा के समय ही सारी परिस्थिति स्पष्ट कर दी थी । चन्द्रहासिनी स्वयं जब अपने पितृगृह में थी तभी उसे सभी बातें ज्ञात हो चुकी थीं । फिर भी आज राजकुमारी ने जो व्यवहार किया है उसका किसी न किसी रूप में दण्ड तो भोगना ही पड़ेगा ।

—"यदि एक बार पुन: सम्राट मेरी स्थिति पर विचार कर राजकुमारी को क्षमा कर दें तो मैं कलङ्क-भाजन बनने से बच जाऊँगी । अन्यथा मुझे विचार करना पड़ेगा कि मेरे जीवित रहने की आवश्यकता है भी, या नहीं ।"

विजयश्रवा ने एक बार स्थिर एवं अपलक दृष्टि से भुवनमोहिनी का म्लान मुख देखा । उसे ज्ञात हुआ—"जैसे चन्द्रहासिनी से अधिक भुवनमोहिनी पश्चाताप कर रही है ।"

विजयश्रवा बोला—"आओ, प्रिये ! अब अपने और मेरे बीच में चन्द्रहासिनी का प्रश्न न खड़ा करो। मैं एक बार तुम्हारे मदिर-प्रेम में आत्म विस्मृत बन कर जीवन को पुरस्कृत करना चाहता हूँ। जीवन के प्रत्येक बहुमूल्य क्षण केवल आत्म-दाह की नारकीय यंत्रणा में छटपटाने के लिए नहीं व्यतीत हो रहे हैं।

भुवनमोहिनी सचमुच विजयश्रवा के लिए छलना मात्र सिद्ध हो रही थी। आज कितने वर्षों से उसका प्रियतम आह्वान करता आया है कि वह मिलन की एक पुलक भरी घड़ी बिता ले किन्तु न जाने, भुवनमोहिनी आज तक क्यों उस प्रियतम के मिलन से भय खाती रही जिसके चरणों में वह कभी समर्पित हो चुकी थी।

एक हृदय तोड़ने वाली पीड़ा की भयानक व्यथा एवं दाह को अपने अन्तर में अनुभव करते हुए भुवनमोहिनी बोली—"प्रियतम सम्राट ! न जाने विधि-विधान के किन कुअङ्कों में जन्म-जन्मान्तर का अभिशाप छिपा था कि मैं आग के दहकते हुए गोले की भाँति अपना हृदय-पिण्ड भस्म करती रही। फिर भी शायद अभी वह दिन कुछ दूर हैं जब जलन का अन्तिम क्षण समाप्त होकर चिर-शान्ति प्रदान करेगा।

—यह चिर-शांति तुम्हारे लिए व्यङ्ग सिद्ध होगी—भुवनमोहिनी ! मैं कटु-भाषी भले होऊँ, किन्तु असत्य नहीं कह रहा।

—जानती हूँ, सम्राट ! किंतु चन्द्रहासिनी की आकांक्षाओं

के नन्दन-कानन में आग की लपटें क्यों जलाऊँ ? कैसे जलाऊँ ?

—जैसे चन्द्रहासिनी ने तुम्हारी दुनिया बरबाद की, चाहो तो तुम भी वही कर सकती हो।

—तब मुझ जैसी तुच्छ नारी एवं चन्द्रहाहिनी के बीच अन्तर ही क्या रह जायगा ?

—आवश्यकता ही क्या है, ऐसे अंतर को स्थापित रखने की।" ग्लानि के साथ विजयश्रवा बोला।

—चन्द्रहासिनी के स्वत्वों की सुरक्षा ही सबसे बड़ी आवश्यकता है। मुझ जैसी नारकीय यंत्रणा भोगने वाली नारियाँ, लक्ष-लक्ष मिल कर भी चन्द्रहासिनी जैसी निर्मल एवं निष्कलङ्क रमणी की तुलना नहीं कर सकतीं। एक बार सम्राट मेरे निवेदन पर पुनः विचार करें। चन्द्रहासिनी को क्षमा द्वारा अभय प्रदान करें और उसकी सेवाओं को ग्रहण कर उसके नारित्व को सफल एवं धन्य हो लेने दें।

—यही तो काँटा है, भुवनमोहिनी ! क्या मेरी बातों को साधारण मनुष्यों की भाँति नहीं समझती ? क्या मुझे यह अधिकार नहीं कि जो मेरा तिरस्कार करे उसका तिरस्कार मैं भी कर सकूँ ?

—नहीं सम्राट ! जैसे का तैसा व्यवहार करना महान् पुरुषों के लक्षण नहीं—जो बड़े हैं, पूज्य हैं—वे ही सर्वदा क्षमा

दान द्वारा अपनी आत्मा का महान् उपकार करते हैं। किंतु जो छोटे हैं, वे अपराध करने की प्रवृत्ति से वाध्य रहते हैं।

भुवनमोहिनी भली प्रकार जानती थी कि विजयश्रवा को कैसे आकर्पित किया जाता है ? और जब वह पूर्णत: स्नेह मग्न रहता है तब किस प्रकार बड़े से वड़े अपराध क्षमा कर देता है।

भुवनमोहिनी विजयश्रवा के निकट आकर खड़ी हो गई और उसके चरणों में गिर कर बोली—"मेरे सम्राट एक वार मेरे निवेदन के प्रति सदय बन कर साम्राज्ञी को अवश्य क्षमा करें।

विजयश्रवा ने भुवनमोहिनी को कन्धा पकड़ कर उठाना चाहा और बोला—"भुवनमोहिनी ! तुम यह क्या कर रही हो ? निरपराध मेरे चरणों में गिर कर मुझे ही अपराधी वना रही हो। तुम्हें अब चन्द्रहासिनी से प्रयोजन क्या है ? अभी आज के ही व्यवहार को भूल गईं।"

—नहीं मेरे सम्राट ! भूली नहीं हूँ किंतु अप्रसन्न भी नहीं हूँ। मैं उसी व्यवहार के योग्य थी अस्तु मैं कभी भी चन्द्रहासिनी पर रुष्ट न होऊँगी।

इसी समय भुवनमोहिनी सम्राट के चरणों को अपने आँसुओं की धारा से स्नान कराने लगी और चन्द्रहासिनी भी आ उपस्थित हुई। विजयश्रवा भुवनमोहिनी के रुदन से सदय हो गया और बोला—"देखिये ! साम्राज्ञी ! एक यह नारी है,

जिसे आप पग-पग में ठुकराती हैं और एक वह है कि आपके पक्ष में मुझसे निवेदन करती जा रही है।

पत्नी को देख कर विजयश्रवा बोला—"अच्छा, रोना बंद करो, भुवनमोहिनी ! विजयश्रवा तुम्हारे आँसुओं के देखने का अभ्यस्त नहीं है। जाओ, मैंने सारी बातें मान लीं किंतु ध्यान रहे कि साम्राज्ञी अब अधिक कष्ट न उठावें–वे आनन्द पूर्वक अपने राज-प्रासाद में रहें।

—और सम्राट ! साहस करके चन्द्रहासिनी बोली।

——अब मैं सम्राट नहीं हूँ, साम्राज्ञी ! मुझे सम्राट कह कर उस महान पद को अपमानित न करें।

—क्या मुझसे इतना भयानक अपराध बन पड़ा है जो क्षमा नहीं किया जा सकता। क्या मैं उन दिनों के स्नेह को भूल सकती हूँ, जब मुझे सम्राट के नेत्रों की पुतली होने का गर्व हुआ करता था ? क्या मुझे दर्शन देना भी पाप होगा ? सम्राट ! मेरे लिये सारे सुख-त्याग कर मुझे क्यों नर्कगामिनी बना रहे हैं। मैं आपके युगुल चरणों की सेवा परित्याग करने के पश्चात् सत्ता एवं शक्ति द्वारा अपने को सजा कर क्या पाऊँगी ? मेरे सर्वस्व !!!

विजयश्रवा ने हार कर चन्द्रहासिनी को प्यार से उठाया। वह सचमुच भुवनमोहिनी के आँसुओं से द्रवित हो उठा था, उसने स्नेह पूर्ण स्वर से चन्द्रहासिनी के हृदय को समझा-बुझा कर शान्त कर दिया। चन्द्रहासिनी का सारा अहंकार विग-

लित हो चुका था। वह सम्राट के सामने ही घुटनों के बल बैठ कर भुवनमोहिनी से भी पुनः क्षमा माँगने लगी। भुवनमोहनी निष्कपट भाव से बोली—"साम्राज्ञी! आप सर्वदा मेरे अपराधों को क्षमा करती रहें। मुझसे क्षमा याचना करना ही अपराध है।"

इतना कह कर भुवनमोहिनी ने चद्रहासिनी का हाथ पकड़ कर सम्राट के हाथों में रख दिया और बोली—"इन्हीं कोमल कर-स्पर्श से आप पुलकित होते हैं अतः इन्हें कभी न परित्याग करें।"

चन्द्रहासिनी लज्जित हो गई किन्तु सम्राट ने मुसकुरा दिया। भुवनमोहिनी दोनों को प्रेम भरे उलाहने देकर प्रसन्न करने लगी।

चन्द्रहासिनी ने मन ही मन भुवनमोहिनी के प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

× × × ×

विजयश्रवा एवं चन्द्रहासिनी के दाम्पत्य जीवन में एक भयानक अन्तर पड़ गया था। चन्द्रहासिनी मन ही मन इस अन्तर का कारण भुवनमोहिनी को मानती थी। उसे प्रारम्भ ही में यह बात खटकी थी किन्तु उन दिनों चन्द्रहासिनी ने यह निश्चय किया था कि ज्यों-ज्यों वह विजयश्रवा के समीपस्थ होती जायगी त्यों-त्यों विजयश्रवा के जीवन से भुवनमोहिनी का प्रभाव घटता जायगा। इसी दृष्टिकोण को लेकर चन्द्र-

हासिनी निरन्तर भुवनमोहिनी को धारा नगरी से दूर रखने का षड्यन्त्र करती रही। विजयश्रवा इन रहस्यमयी बातों को न समझता था।

जब-जब भुवनमोहिनी देशाटन या तीर्थ यात्रा के नाम पर राजधानी से दूर चली जाती थी, तब-तब चन्द्रहासिनी पति के ऊपर अपना असाधारण प्रभाव जमाती रहती थी। विजयश्रवा समझता था कि भुवनमोहिनी स्वेच्छा से धारा नगरी के बाहर जाया करती है किंतु भुवनमोहिनी से चन्द्रहासिनी की भावना छिपी न रहती थी फिर भी वह अपने मन को दबा कर, बिना विजयश्रवा से कुछ कहे—केवल चन्द्रहासिनी के सन्तोष के लिए, कटी पतङ्ग की भाँति निराधार भ्रमण करती रहती थी।

इस बार भुवनमोहिनी भ्रमण से लौटने के पश्चात् मन ही मन सङ्कल्प करके आयी थी कि विजयश्रवा इन पाँच वर्षों के भीतर अपने मन से उसे भुला चुका होगा और चन्द्रहासिनी अपने प्रभाव द्वारा पति को अपने अधिकार में कर चुकी होगी। अब वह कहीं भटकने न जावेगी। हाँ, वह धारा नगरी में ही अनासक्त भाव से रहने का प्रयास करेगी और जहाँ तक सम्भव होगा, वह विजयश्रवा एवं चन्द्रहासिनी के दाम्पत्य जीवन में रोड़ा बनकर न खड़ी होगी।

किन्तु उस दिन की घटना ने सिद्ध कर दिया था कि विजयश्रवा उसे नहीं भुला सका और न वह ही अपने हृदय

धन की मनहर झाँकी को अपने अन्तर-पट से विनष्ट कर सकी है।

विजयश्रवा ने माता एवं भुवनमोहिनी के अनुरोध को ठुकराया तो नहीं। उसने अन्तःकरण से चन्द्रहासिनी को क्षमा तो कर दिया किन्तु साथ ही उसने राजप्रासाद भी परित्याग कर दिया। उसे पुनः पर्ण-कुटी में रहने का शान्ति-पूर्ण सुख आकर्षित करने लगा था अस्तु जिस प्रकार उसने निर्वासन काल में इन्द्रप्रस्थ जाकर महाराज आदित्यसेन के उपवन में रहना प्रारंभ किया था, उसी भाँति वह पर्ण कुटी बनवा कर, धारा नगरी के एकान्त एवं निर्जन प्रदेश में रहने लगा। राजकीय अधिकारियों एवं मंत्रियों को आदेश था कि वे शासन सम्बन्धी आदेशों को प्राप्त करने एवं जटिल समस्याओं से सम्राट को अवगत कराने के लिए सीधे पर्णकुटी में पहुँचा करें।

कभी-कभी राजमाता से मिलने वह स्वयं राज-प्रासाद की ओर आता था और अन्तःपुर के बाहर के कमरों में रुक कर राज-माता से मिल लेता था। पर्णकुटी में राजकीय परिवार के सदस्यों का प्रवेश निषिद्ध था। केवल राजकुमार को लेकर माह में एक बार संरक्षक आता था और वह भी राजकुमार के स्वास्थ्य एवं कुशल-क्षेम से विजयश्रवा को अवगत कराकर लौट जाता था।

चन्द्रहासिनी ने पत्रों द्वारा कितनी ही बार पति से मिलने की इच्छा प्रकट की किन्तु उसका कोई परिणाम न निकला।

विजयश्रवा ने पत्र-वाहक को कठोर आदेश द्वारा सावधान कर दिया कि वह फिर कभी साम्राज्ञी के पत्रों को लेकर न आये। अधिकांश पत्र तो बिना पढ़े ही विजयश्रवा ने लौटा दिये और द्वारपाल को आज्ञा दे दी गयी कि यदि कभी साम्राज्ञी जबरन प्रवेश करने की चेष्टा करें तो वह उन्हें भी रोक दे।

इस प्रकार विजयश्रवा सम्पूर्ण स्नेह-सम्बन्धों से अवकाश ग्रहण कर एकान्त सेवी बन गया। जब कभी वह अपने काम-काज से छुट्टी पाता तब भुवनमोहिनी उसकी दृष्टि में नाचने लगती। विजयश्रवा रथ भेजकर उसे---बुलाता और उससे मिलकर प्रसन्न हो जाता। प्रायः जब भुवनमोहिनी आती तब वह पूरे दिन पर्ण-कुटी में रुक जाती। उस दिन उसे सम्राट के साथ ही भोजन ग्रहण करना पड़ता और वह संगीत के द्वारा विजयश्रवा का मनोरंजन कर अपने गृह लौटती।

विजयश्रवा ने भुवनमोहिनी को आज्ञा दे रक्खी थी कि वह, बिना पूर्व स्वीकृति प्राप्त किये, धारा नगरी छोड़कर अन्यत्र न जावेगी। भुवनमोहिनी सम्राट के आदेश का अक्षरशः पालन करती थी।

एक दिन जब विजयश्रवा ने भुवनमोहिनी को बुला भेजा तो उसे ज्ञात हुआ कि वह अस्वस्थ्य है—चलने फिरने की उसमें शक्ति नहीं। वह किसी सांघातिक रोग से रुग्ण है किन्तु वह स्वस्थ्य होने का कोई प्रयास नहीं करती। बड़े-बड़े चिकित्सक उसके समीप जाते हैं, उसे देखते हैं। किन्तु वे यह

नहीं स्थिर कर पाते कि वास्तव में उसे कैसा रोग है, और चिकित्सा का क्या प्रबन्ध होना चाहिये ?

संभवतः उसने चिकित्सकों से निवेदन भी किया था कि उसे शान्त रूप से पड़ी रहने दें किन्तु सम्राट के भय से चिकित्सक वर्ग उसके समीप स्वयं जाते थे और वे उसे बाध्य करके औषधियों का सेवन कराते थे।

विजयश्रवा इस समाचार से बड़े असमंजस में पड़ गया। वह स्वयं भुवनमोहिनी को देखना चाहता था किन्तु एक नर्तकी के गृह में भारत सम्राट का जाना अपवाद पूर्ण था। विजयश्रवा सोच रहा था कि वह उसे कैसे देखे और उसके स्वास्थ्य लाभ करने का क्या आयोजन करे ?

धीरे-धीरे भुवनमोहिनी की अस्वस्थ्यता सर्व साधारण की चर्चा का विषय बन गया। यद्यपि भुवनमोहिनी का जन्म एक नर्तकी के गृह में हुआ था, फिर भी वह अपने सङ्गीत एवं सेवाओं के कारण राष्ट्र व्यापी ख्याति प्राप्त कर चुकी थी और अधिकांश जनता की प्रियता प्राप्त करने के कारण ही, उसके स्वास्थ्य लाभ की कामना जनता करने लगी थी।

चिकित्सक वर्ग को आदेश था कि प्रत्येक क्षण कोई न कोई भुवनमोहिनी की परिचर्या एवं सेवा-सुश्रूषा में अवश्य रहे और यूँ तो भुवनमोहिनी को किसी की सेवा की आवश्यकता ही न थी क्योंकि उसके गृह में दास दासियों की कोई कमी न थी।

जितनी ही उसके स्वास्थ्य लाभ करने की चिकित्सा हो

रही थी, वह उतनी ही अधिक अस्वस्थ्य होती जा रही थी। विजयश्रवा प्रति दिन चिकित्सकों को बुलाता और बड़ी चिन्ता के साथ उनसे बीमारी का विवरण प्राप्त करता।

एक दिन की बात! भुवनमोहिनी की अस्वस्थता बढ़ गयी और सम्पूर्ण नगर में यह समाचार फैल गया कि उसकी अवस्था भयङ्कर है और वह किसी क्षण मृत्यु की नीरव गोद में शान्ति प्राप्त कर सकती है। उक्त समाचार विजयश्रवा के कानों तक जा पहुँचा। वह घोर चिन्ता में पड़ गया। यदि सचमुच भुवनमोहिनी मृत्यु के कराल गाल से न बचाई जा सकी तो विजयश्रवा का नैराश्यपूर्ण प्रणयी जीवन सर्वदा के लिए अशान्त हो जायगा।

विजयश्रवा ने एक ओर तो समस्त चिकित्सकों को बुला कर भुवनमोहिनी के अच्छे न होने के कारण वे की छानबीन प्रारम्भ की और दूसरी ओर उसने राजपरिवार के चिकित्सक को भी भुवनमोहिनी की देख-भाल के हेतु नियुक्त कर दिया किन्तु चिकित्सकों ने बतलाया कि उन्हें एक बात का भयानक सन्देह हो चला है।

—वह क्या ?—चिन्तित होकर सम्राट ने पूछा—

—भुवनमोहिनी स्वयं सम्राट से मिलने को उत्सुक है किन्तु वास्तविक स्थिति यही है कि वह मृत्यु शैया ही में पड़ी है अस्तु इच्छा होते हुए भी वह सम्राट के दर्शन नहीं कर पाती। और वह अन्य किसी व्यक्ति से न तो अधिक बातें करती और न यही बतलाती कि उसने औषधि का सेवन किया या नहीं।

हाँ, जब से वह बीमार है, तब से उसके समीप एक रहस्यमयी नारी दिखाई पड़ रही है। संभवत: वह इन्द्रप्रस्थ से आयी है। सुना है कि वह महिला-चिकित्सिका है।

विजयश्रवा सहसा पीला पड़ गया किन्तु वह दूसरे ही क्षण क्रोध से भरकर बोला—"यह बात मुझे आज तक क्यों न बतलाई गयी ?

—साम्राज्ञी का आदेश न था।

विजयश्रवा को चरणों से नीचे की भूमि खिसकती हुई सी प्रतीत हुई। उसने खीझ कर पूछा—"साम्राज्ञी को भुवनमोहिनी की अस्वस्थ्यता से क्या सरोकार था।"—देव ? हम लोगों ने प्राय: यही सुना था कि साम्राज्ञी देव को प्रसन्न करना चाहती हैं। भुवनमोहिनी की अस्वस्थ्यता जानकर साम्राज्ञी ने चिकित्सकों के समीप यह आदेश भेजा था कि भुवनमोहिनी ने उनके साथ कुछ ऐसे व्यवहार किये हैं जिससे साम्राज्ञी कभी उऋण नहीं हो सकती इसी कारण वे भुवन-मोहिनी को स्वास्थ्य लाभ करा कर अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहती थीं। इसी हेतु उन्होंने इन्द्रप्रस्थ से आई हुई महिला चिकित्सिका को भुवनमोहिनी की सेवा में प्रस्तुत कर रक्खा था।

—तो क्या कोई महिला-चिकित्सिका भी इन्द्रप्रस्थ से बुलायी गयी थीं ?"

—नहीं देव ! सुनने में यह आया है कि उक्त महिला

साम्राज्ञी के शैशव-काल की सखी एवं सम्बन्ध में ममेरी बहन हैं।

विजयश्रवा आश्चर्य विस्मय एवं कौतुहल भरी दृष्टि से उन समस्त चिकित्सकों को देखने लगा और बड़ी देर तक चिन्तित मुद्रा में रहने के पश्चात् वह बोला—"यही कारण है कि भुवनमोहिनी अच्छी नहीं हो रही हैं। मुझे तो आज ज्ञात हुआ कि भुवनमोहिनी की चिकित्सा उक्त महिला जी कर रही हैं।

विजयश्रवा कुछ क्षणों तक मौन रहा। अन्त में वह रोष भरे स्वर में बोला—"यदि भुवनमोहिनी के जीवन के साथ कोई अप्रिय घटना घटित हुई तो, स्मरण रखना, भयानक दण्ड भोगना पड़ेगा। मैं किसी चिकित्सक को क्षमा नहीं कर सकता। मैंने उसकी बीमारी के प्रारम्भिक काल में ही आदेश दे दिया था कि राजकीय औषधालय से बहुमूल्य दवाइयाँ लेकर उसे सेवन कराया जाय। साथ ही आवश्यकतानुसार राजकोष की सम्पत्ति भी, भुवनमोहिनी की अस्वस्थ्यता दूर करने के लिए, व्यय की जा सकती थी।"

सम्राट का रोषपूर्ण आदेश सुनकर सारे चिकित्सक स्तब्ध रह गये। वे अब भी बहुत सी बातें सम्राट को सूचित करने से डर रहे थे किन्तु सम्राट ने सारा दायित्व उन्हीं चिकित्सकों पर डाल दिया था।

सम्राट का आदेश सुनकर, सम्पूर्ण चिकित्सक वर्ग भुवनमोहिनी के गृह की ओर दौड़ा। अपने एकान्त में सम्राट ने

अपने दास अरण्यक को बुलाया और उसे स्त्री-वेष में भुवन-मोहिनी के समीप जाकर रहने की आज्ञा दी।

सम्राट ने अपने मन की अनेक शङ्काएँ अरण्यक से प्रकट कर दीं और अन्त में कहा—"अपरिचित महिला चिकित्सक का भुवनमोहिनी के समीप रहना भय से खाली नहीं। अरण्यक! जाओ! उस महिला-चिकित्सक को प्रत्येक क्षण देखते रहो कि वह किस प्रकार भुवनमोहिनी की सेवा-सुश्रूषा करती है। यदि वह अपनी ओर से कोई औषधि सेवन कराती है जिसे चिकित्सक वर्ग नहीं देता तो तुम प्रयास करके उस औषधि को मेरे पास लाना किन्तु सावधान! किसी महिला या पुरुष को यह ज्ञात न हो कि तुम हमारे सेवक हो। सब लोगों के बीच में स्त्री-वेष में रहना किन्तु एकान्त पाते ही भुवनमोहिनी के कानों से लगकर अपना सही नाम बतला देना।

अरण्यक स्वामिभक्त सेवक की भाँति विजयश्रवा का आदेश पालन करने चल पड़ा। उसने इस प्रकार अपना वेष परिवर्तित किया कि उसे देखकर महिलाएँ भी न जान पायीं कि वास्तव में वह कौन है?

हाँ, उसने भुवनमोहिनी के समीप जाते ही एकान्त में उसे बतला दिया कि वह अरण्यक है और स्वामी के आदेशानुसार ही वह स्त्री-वेष में उसकी सेवा करेगा।

यद्यपि भुवनमोहिनी की स्थिति चिन्ताजनक थी किन्तु अपने समीप अरण्यक को देखकर वह पर्याप्त सुध-बुध के साथ पड़ी रहने की चेष्टा करने लगी।

इसी बीच में चिकित्सक वर्ग ने सेवन करने के लिए जो औषधियाँ दी थीं उन्हें अरण्यक ने अपने अधिकार में कर लिया और वह राजकीय चिकित्सक की आज्ञानुसार स्वयं औषधियों का सेवन कराने लगा ।

अरण्यक के आते ही उक्त महिला चिकित्सका बड़े असमंजस में पड़ गई । उन्होंने भुवनमोहिनी के दास-दासियों को अपने प्रभाव में ले रक्खा था । स्वयं भुवनमोहिनी की दास-दासियाँ उक्त महिला पर विश्वास न करती थीं किन्तु साम्राज्ञी के भय से उनकी एक न चलती थी । यहाँ तक कि सम्राट के भेजे हुये चिकित्सक लोग जो भी औषधियाँ देते, वे सब उसी महिला के द्वारा भुवनमोहिनी को ग्रहण करनी पड़ती थीं ।

लगातार तीन दिवसों तक अरण्यक की देख-रेख में औषधियाँ सेवन करते ही भुवनमोहिनी के रोग की संक्रामकता पचास प्रतिशत कम हो गई । अरण्यक को भुवनमोहिनी कमला नाम से पुकारा करती थी और उन महिला चिकित्सक का नाम कुमारी विमला था । वे अविवाहित थीं और उन्होंने आजन्म क्वाँरी रहने का व्रत ले रक्खा था ।

रात्रि का समय था । कुमारी विमला ने कमला से कहा—"मैं इधर कई दिवसों से साम्राज्ञी से नहीं मिल सकी हूं । अस्तु भुवनमोहिनी के स्वास्थ्य की सूचना देने के साथ ही साम्राज्ञी से मिलूँगी भी, अतः यदि मुझे विलम्ब हो तो तुम देख-भाल करती रहना । मैं आकर रात की परिचर्या कर लूँगी ।"

कुमारी विमला तो चन्द्रहासिनो के समीप पहुँची और

कमला नामी अरण्यक भुवनमोहिनी की सेवा में प्रस्तुत रहा किन्तु सम्राट के आदेशानुसार भुवनमोहिनी उसे सर्वदा कमला नाम से ही पुकारती थी।

कमला ने दास-दासियों को भुवनमोहिनी के पास से हटा दिया। पूर्ण एकान्त प्राप्त करते ही भुवनमोहिनी बोली—"कमला! मुझे दो एक को छोड़कर अपने दास-दासियों पर विश्वास नहीं रहा। कुमारी विमला ने साम्राज्ञी की ओर से बड़े-बड़े उपहार देकर उन सबको अपने पक्ष में कर लिया था। यही कारण था कि मैं प्रायः औषधियों का सेवन नहीं करती थी। कुमारी विमला के हाथ से केवल एक बार मैंने औषधि सेवन की है जिसका परिणाम यह हुआ था कि मैं तीन दिवसों तक अचेत पड़ी रही। अतः जब वह मुझे औषधि सेवन करने के लिए देतीं उसके शीघ्र ही पश्चात औषधियों के सन्दूक में ताला डाल देती थीं और राजकीय चिकित्सकों को वे दवाइयाँ दिखलाया करती थीं जो सम्राट के आदेशानुसार दी जाती थीं अस्तु मैंने भी औषधि सेवन करने के दोनों पात्र एक ही प्रकार के रख छोड़े थे। उनमें से एक में दवा दूसरे में जल दिया जाता था। मैं दृष्टि बचाकर जल की एक-दो घूँट पी लेती थी और औषधियों को खिड़की के बाहर फेंक देती थी। अतः तुम आज एक काम करो। दवाइयों का जो संदूक कुमारी विमला अपने साथ लाई है, उन्हें आज ही सम्राट के पास भिजवा कर उनकी जाँच होने दो।"

स्वयं सम्राट को ही चिकित्सकों की बातों से सन्देह हो

हो चुका था जब आज भुवनमोहिनी ने अरण्यक से अपना सन्देह प्रकट किया तो वह उसी क्षण कुमारी विमला की औष-धियों की पेटी लेकर वह सम्राट के समीप जा पहुंचा। चिकि-त्सक वर्ग उस समय सम्राट की सेवा में प्रस्तुत होकर भुवन-मोहिनी के पुनः स्वास्थ्य लाभ करने तथा कुमारी विमला के प्रति अपना असाधारण सन्देह प्रकट कर रहा था।

ज्यों ही कमला ने औषधियों की पेटी लाकर सम्राट के समक्ष प्रस्तुत की, त्यों ही सम्राट की आज्ञानुसार उसके ताले तोड़े गये। चिकित्सकों ने उन औषधियों का परीक्षण प्रारम्भ किया। वे औषधियाँ क्रम से कुत्तों, बिल्लियों एवं पक्षियों को बिन्दु मात्र दूध के साथ पिलाई गईं और वे सब कुछ क्षणों के भीतर तड़प कर मर गये। सारे चिकित्सक चिल्ला पड़े—ये समस्त औषधियाँ विष मिश्रित हैं।

सम्राट के नेत्रों से क्रोध की ज्वाला निकलने लगी। सम्राट ने कमला से पूछा कि वह चिकित्सिका कहाँ है?

कमला ने बतलाया कि वह साम्राज्ञी से भेंट करने गई है।

कमला को भुवनमोहिनी के समीप लौट जाने का आदेश देकर सम्राट ने चिकित्सकों को विदा किया और पूर्ण साव-धानी बरतने की आज्ञा दी।

आज स्वयं सम्राट राज-प्रासाद की ओर चले किन्तु प्रवेश-द्वार पर पहुँचते ही उन्होंने आज्ञा दी कि उनका राज-प्रासाद में पहुँचना गुप्त रक्खा जाय।

सम्राट सीधे चन्द्रहासिनी के महल की ओर बढ़े। जब वे चन्द्रहासिनी के निवास स्थल से पचास पग दूर थे, तब उन्होंने चन्द्रहासिनी की दासियों का जमघट उसी स्थान पर देखा। वे सब उठकर सम्राट को उच्च स्वर में अभिवादन करने वाली थीं कि साम्राट ने उन्हें इशारे से रोक दिया और धीमे स्वर से कान में लगकर साम्रज्ञी की संरक्षिका से पूछा—"तुम सब लोग यहाँ पर क्या कर रहे हो ?"

"सामाज्ञी की आज्ञा से दूर आकर प्रतीक्षा कर रही हूं ?"

"साम्राज्ञी कहाँ है ?"

"विश्राम निकेतन में"।

"उनके साथ और कौन है ?"

"उन्हीं की ममेरी बहन-कुमारी विमला।"

"वे दोनों क्या कर रही हैं ?"

"देव ! हम लोगों को ज्ञात नहीं। हाँ सुनने में यह आया है कि भुवनमोहिनी की बीमारी के समय वह यहाँ आई थीं किन्तु एक योग्य चिकित्सिका होने के कारण साम्राज्ञी ने उन्हें भुवनमोहिनी के अच्छा करने का दायित्व सौंपा था।

"अच्छा !" कहकर विजयश्रवा अकेले ही बढ़ा। दासियाँ आपस में कानाफूँसी करती हुई जहाँ की तहाँ बैठी रहीं किन्तु साम्राज्ञी की संरक्षिका जो उनके साथ इन्द्रप्रस्थ से आयी थी, सम्राट को बिना पूर्व सूचना के आया हुआ देखकर भीतर ही भीतर काँप उठी। उसके धड़कते हुए हृदय ने कहा—"आज साम्राज्ञी के अपशकुनों की भयानक घड़ी उपस्थित है।"

"विजयश्रवा साम्राज्ञी के कमरे के किवाड़ों की ओट में जाकर दबे पाँव खड़ा हो गया और उनकी बातें सुनने लगा। कुमारी विमला कह रही थी—"मैं केवल एक ही बार अपनी दवा दे सकी। इसके पश्चात् उसने कोई दवा ग्रहण नहीं की। वह केवल इन दिनों के बीच में मुझसे एक बार बोली थी।

—क्या कहा था उसने ? चन्द्रहासिनी ने पूछा

–और क्या कहती ? दवा देने के समय बोली–"मैं कोई दवा न ग्रहण करूँगी ! मैं अब जीना नहीं चाहती।"

पिशाचिनी-सी चन्द्रहासिनी अट्टहास कर उठी और तब बोली–"अच्छा लो ! वह जिस पात्र में दवा का सेवन करती हो, उसमें इस औषधि को स्पर्श करा देना, किन्तु ध्यान रहे, केवल स्पर्श मात्र हो। यदि वह जीना नहीं चाहती तो मैं कब चाहती हूं कि वह जीवित रहे।"

कुमारी विमला ने चन्द्रहासिनी के हाथ से वह शीशी लेकर अपने वक्ष-स्थल में छिपा ली। साम्राज्ञी भी अपने स्थान में निश्चिन्त होकर बैठ गई और मृदुल हास्य के साथ बोली—"बहन ! जब भुवनमोहिनी हमारे पितृ-गृह में रहती थी, तब वह तुम्हें मुझसे भी अधिक चाहती थी और तुम पर पूर्ण विश्वास करती थी। यही सोचकर मैंने तुम्हें बुलाया था।"

"हाँ, विश्वास तो करती थी और यहाँ आने पर भी वह मुझसे उसी विश्वास के साथ मिली थी किन्तु उस दिन की औषधि ने उसे तीन दिवसों तक चेतना-हीन रक्खा था, सम्भ-

वत: या तो वह मुझ पर सन्देह करने लग गई थी या वह जैसा कहती है, वह दवा सेवन नहीं करना चाहती क्योंकि उसे जीने की लालसा नहीं। किन्तु हाँ, यह जो कमला नाम की सेविका आई है इसे भुवनमोहिनी की दास-दासियाँ तक नहीं पहचानतीं किन्तु भुवनमोहिनी का उस पर अगाध विश्वास है।

–लो, यह मूल्यवान हार उसे पहना देना। वह अपने आप तुम्हारी वशवर्तिनी बन जायगी।"

कुमारी विमला ने वह हार स्वयं पहन लिया और एक बड़े दर्पण के सामने खड़ी होकर उस हार की शोभा अपने शरीर पर देखने लगी।

–"बड़ा सुन्दर लगता है तुम्हारे शरीर पर!" चन्द्र-, हासिनी बोली—तो इसे मैं ही क्यों न धारण करूँ?"

—छि: लोभिनी! "तुझे मैं ऐसे-ऐसे अनेक मूल्यवान हार पहनाऊँगी पहले सफलता तो प्राप्त कर। यह हार उसी कमला नामिनी दासी को देना। सम्भवत: सम्राट ने उसे दूर देश से बुला भेजा हो और उनका विश्वास भुवनमोहिनी की दासियों से उठ गया हो।"

कुमारी विमला कोई प्रतिवाद न कर सकी फिर भी उसे सन्तुष्ट करने के लिए साम्राज्ञी ने एक अन्य हार उसे पहना दिया जो कमला को दिये जाने वाले हार से अधिक मूल्यवान एवं रमणीय था।

विमला प्रसन्न हो गई। वह बोली—"अच्छा बहन! मैं

जाती हूं। मुझे अधिक समय नहीं है। न जाने क्षण भर में क्या से क्या हो जाय !

चन्द्रहासिनी किसी दासी को पुकारने के लिए बाहर निकली जो कुमारी विमला को राज-प्रासाद के बाहर तक पहुंचा आवे किन्तु द्वार पर पहुँचते ही सम्राट ने कहा—"साम्राज्ञी को अधिक कष्ट न उठाना पड़ेगा ! मैं स्वयं कुमारी विमला के पहुँचाने को आ धमका हूँ।"

चन्हासिनी भय-विह्ल होकर अवाक् रह गई। सम्राट ने एक ठोकर से साम्राज्ञी को भूमि पर गिरा दिया। वह आगे वढ़ा और मूल्यवान हार पहने हुए कुमारी विमला को देखकर प्रज्वलित लपटों की भाँति अरुण पड़ गया।

सम्राट ने कुमारी विमला के लहराते हुए खुले केश पकड़ कर इतने वेग से खींचा कि वह धराशाई होगई। उन्होंने उसके वक्षः स्थल से विष की शीशी छीनकर अपने अधिकार में कर लिया और तब बोला—"सामाज्ञी ने अपनी प्रिय बहन को जिन अमूल्य उपहारों द्वारा पुरस्कृत किया है, मैं उसे छीनता हूँ।"

विजयश्रवा ने उन दोनों अमूल्य हारों को विमला की गर्दन से उतार लिया और साथ ही दोनों बहनों को पाद प्रहार द्वारा पुरस्कृत करने लगा। सारे अन्तःपुर में एक भयानक षड्यंत्र का विस्फोट हो गया। अन्तःपुर की समस्त दासियाँ सम्राट का ऐसा उग्र रूप देखते ही सहम गईं।"

आगे बढ़कर सम्राट ने आज्ञा दी—"इन दोनों बहनों को अन्तःपुर के कारागार में बन्द कर दो।"

साम्राज्ञी चन्द्रहासिनी तथा उसकी ममेरी बहन कुमारी विमला तत्काल सम्राट को आज्ञा द्वारा बन्दिनी बना ली गईं और सम्राट ने गान्धारी स्त्रियों को नंगी तलवार हाथ में लेकर उनकी चौकसी करने की आज्ञा दी। दोनों बहनें अगल-बगल की कोठरियों में बन्द कर दी गयीं। जो कल तक उनके मुख से निकलने वाले आदेशों का पालन करती थीं, वे आज नग्न तलवार धारण किये हुए कल की स्वामिनी को आज बन्दिनी बनाकर पहरा दे रही थीं। आज वह स्वामिनी उन सेवकिनियों के दया की पात्र थीं। महिलाएँ सैनिक वेष में राज-प्रासाद के भीतर होने वाले अवैधनिक कार्यों का पूर्ण विवरण रखती थीं आज उनके सामने चन्द्रहासिनी की जिह्वा मौन थी। यदि आज साम्राज्ञी उन महिला सैनिकों से बोलना भी चाहतीं, तो वे आज साम्राज्ञी से बातें करने में डरती थीं। सम्राट का भय सबको खाये जा रहा था। आपस में दास-दासी कहते जो सम्राट अपराध करने पर अपनी प्रियतमा साम्राज्ञी को क्षमा नहीं कर सका, वह दूसरों को कैसे क्षमा कर सकता है?

विजयश्रवा उन दोनों बहनों को बन्दिनी बनाकर पहरेदार गान्धारी स्त्रियों से बोला—"देखो, पूर्ण सावधानी बरतना। यदि किसी ने साम्राज्ञी का पक्ष लेकर किसी प्रकार अवज्ञा करने का अपराध किया तो उसे मृत्यु दण्ड दिया जावेगा। मेरी आज्ञा प्राप्त किये विना इन राजकुमारियों को कोई वस्तु

न दी जावेगी ।"

विजयश्रवा उक्त आदेश देकर अन्त:पुर से बाहर निकल कर अपनी पर्णकुटी में जा पहुँचा । इधर राजमाता को दास-दासियों ने सम्पूर्ण षड्यंत्र से अवगत कराया । वृद्धा राजमाता एकाएक चन्द्रहासिनी के इन दुष्कर्मों पर विश्वास न कर सकीं वे अन्त:पुर के बन्दीगृह की ओर बढ़ीं जहाँ रनवास में अपराध करने पर बड़े कठोर दण्ड दिये जाते थे ।

गान्धारी असि-धारिणी महिला सैनिकों ने राजमाता को अभिवादन किया किन्तु जैसे ही राजमाता आगे बढ़ीं और पुत्र-वधू से विवरण प्राप्त करने के लिए प्रश्न करने लगीं, त्यों ही उन महिला सैनिकों की प्रमुख सरदारिनी ने निवेदन किया कि सम्राट के आदेशानुसार किसी को साम्राज्ञी से बातें करने का आज्ञा नहीं है ।

राजमाता अपराध की गुरुता को भली-भाँति समझ चुकी थीं, अस्तु उन्होंने भी पुत्र की अवज्ञा करना उचित न समझा । वे लौट चलीं । चन्द्रहासिनी की रही-सही आशा भी जाती रही । साम्राज्ञी को आशा थी कि यदि राजमाता ने उसका पक्ष ग्रहण कर लिया, तब वह क्षमा प्राप्त कर सकेगी ।

विजयश्रवा ने अपनी कुटी में आते ही लिखित आदेश भेजा कि जब तक चन्द्रहासिनी अन्त:पुर के बन्दीगृह में कैद है और उसके सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय नहीं हो जाता, तब तक वह साम्राज्ञी के नाम से न पुकारी जायगी ।

विजयश्रवा ने भुवनमोहिनी के समीप जाकर अन्य ज्ञातव्य

बातें भी जान लीं। कुमारी विमला के औषधियों वाले गुप्त सन्दूक में बहुत से भयानक विष प्राप्त हो चुके थे। स्वयं अपने कानों विजयश्रवा ने विष स्पर्श करा कर भुवनमोहिनी की जीवन-यात्रा समाप्त कर देने की बात सुनी थी।

विजयश्रवा निरंतर एक सप्ताह तक सोचता रहा कि चन्द्रहासिनी को क्या दण्ड दिया जाय? अन्त में उसने कुछ निर्णय किया और वह अन्तःपुर में जा पहुँचा। राजमाता ने बहुत प्रयत्न किया कि वे विजयश्रवा से मिल सकें किन्तु विजयश्रवा ने अन्तःपुर के मध्य भाग का मार्ग अवरुद्ध करा दिया।

उसने महिला मज़दूरनियों को बुलाया और आज्ञा दी कि चन्द्रहासिनी जिस भाग में बन्दिनी है उस कमरे के प्रवेश द्वार को बन्द कर दिया जाय और वे दोनों बहनें दीवालों के भीतर चुनवा दी जायें।

सारे अन्तःपुर में कोहराम मच गया पर किया क्या जाय? सम्राट के आदेश बदले नहीं जा सकते। स्वयं विजयश्रवा ने दण्ड की आज्ञा चन्द्रहासिनी तथा उसकी बहन कुमारी विमला को अपने सामने बुलाकर सुनाई। सदेह वे कारावास की दीवारों के भीतर चुनवा दी जावेंगी, इससे भयानक दण्ड और क्या हो सकता था।

किन्तु वह एक सामन्त युग था। जब रानी-महारानियों को अपराध करने पर इसी प्रकार के मृत्यु-दण्ड दिये जाते थे। चन्द्रहासिनी ने सम्राट से न जाने कितना निवेदन किया किन्तु सब व्यर्थ! सम्राट का आदेश था कि राजकुमारी ने अपनी

ममेरी बहन को बुलाकर भुवनमोहिनी के प्राण लेने की चेष्ठा की थी, यह जानते हुए कि मैं उसकी अस्वस्थ्यता के समय स्वयं उसके जीवन की रक्षा कर रहा था और स्वयं कई इसी प्रकार के अपराधों के लिए क्षमा-दान भी दे चुका था फिर भी राजकुमारी मेरी एवं मेरे आदेशों की जितनी संभव उपेक्षा कर सकती थी, वह सब कुछ करने में उसने कोई कोर-कसर नहीं की है।

देखते-देखते कारावास का प्रवेश द्वार चुनवा दिया गया। चन्द्रहासिनी एवं उसकी बहन कुमारी विमला ने हाहाकार मचाकर प्राणों की भिक्षा की याचना की किन्तु सम्राट ने जैसे अपने कान बहरे कर लिये हों। सम्राट की कठोरता देखकर सारा अन्तःपुर यम के त्रास से डरने लगा।

धीरे-धीरे उक्त समाचार सम्पूर्ण नगर में फैल गया। सम्राट विजयश्रवा के न्याय-परायणता की कहानी एक आदर्श की भाँति सारे साम्राज्य में फैल गयी। राजमाता ने विजय-श्रवा को बारम्बार बुला भेजा किन्तु वह जानता था कि उसे क्यों बुलाया जा रहा है ?

दूसरी ओर जब भयानक दण्ड की कहानी भुवनमोहिनी को ज्ञात हुई, तब तो वह कह उठी—"अब मैं जीना नहीं चाहती। यह सारा कलंक मुझ पर आरोपित किया जायगा। दुनिया कहेगी कि सम्राट ने एक नर्तकी का पक्ष लेकर स्वयं अपनी साम्राज्ञी को मृत्यु दण्ड प्रदान किया है। मैं जीकर क्या

करूँगी ? यह कलंक ढोने से उचित तो यह है कि अब मैं रुग्ण शैया से न उठूँ ।"

जब राजमाता बारम्बार प्रयास करके भी पुत्र से न मिल सकीं तब वह सोचने लगीं कि चन्द्रहासिनी के मृत्यु-दण्ड का परिणाम उचित न होगा। संभवतः महाराज आदित्यसेन अपनी एक मात्र सन्तान के जीवन-विनाश की कहानी धैर्यपूर्वक न सुन सकें और चन्द्रहासिनी एवं कुमारी विमला के निधन की कहानी किसी सर्वनाश को न आमंत्रित कर बैठे।

उक्त चिन्ता को लेकर जब राजमाता पुत्र के वास-स्थल पर पहुँचीं तब विजयश्रवा किसी गम्भीर चिन्ता में निमग्न चुपचाप बैठा था। सम्पूर्ण नगर में मृत्यु की सी शान्ति छायी हुई थी। घर-घर में चन्द्रहासिनी के घोर दण्ड की कथा व्याप्त हो चुकी थी।

राजमाता ने उन समस्त भयावह परिणामों की ओर पुत्र का ध्यान आकर्षित किया किन्तु विजयश्रवा अपने निर्णय को बदलना न जानता था। वह माता से बोला—"राजकीय आदेशों के प्रति किसी को कुछ शिकायत न होनी चाहिये। गंभीरतम अपराधों का दण्ड भी गंभीर एवं भयानक होता है। चन्द्रहासिनी राजकुमारी बनकर भी अपने जीवन में महानता की उपासना न कर सकी। भारत राष्ट्र की साम्राज्ञी ऐसे नीच षड्यंत्रों का आश्रय ले, इसका सारी प्रजा पर कैसा भयानक प्रभाव पड़ेगा ? मुझे दुनिया क्या कहेगी ?

यदि आज मैंने चन्द्रहासिनी को क्षमा कर दिया होता तो संभवत: कल वह मुझसे ही प्रतिकार लेने पर तत्पर हो जाती। उसने निरंतर मेरी उपेक्षा करके बारम्बार क्षमा एवं अभयदान का अनुचित्त लाभ उठाया है। ऐसी अनैतिक घटनाओं का जन-जीवन पर सर्वदा भयानक प्रभाव पड़ता इसलिए जैसा अपराध साम्राज्ञी ने किया था, वैसा ही दण्ड भी उन्हें भोगना पड़ा।"

राजमाता चाहती थी कि चुनाया गया बन्दी गृह द्वार तुड़वा दिया जाय किन्तु विजयश्रवा ने वहाँ पर सैनिक पहरा बिठला दिया था। निरुपाय होकर राजमाता लौट आयीं किन्तु उसे अपने पंचवर्षीय पौत्र की चिन्ता सता रही थी जो बाल्य-काल में ही मातृ-विहीन होकर अति दीन-मलीन सा दीख पड़ने लगा था। राजमाता स्वयं पौत्र को अपने संरक्षण में रखने लगीं।

समस्त नगर एवं साम्राज्य में चन्द्रहासिनी की अकाल मृत्यु पर जनता ने अपार शोक मनाया। स्वयं विजयश्रवा एक मास तक सम्पूर्ण कार्यों से सन्यास ग्रहण किये हुए, एकान्त वास करता रहा! उसके जीवन में मानसिक अशान्ति ने गृह बना लिया। इन्हीं दिवसों के बीच भुवनमोहिनी की मानसिक अशान्ति अपनी सीमा पार कर गयी। जिस राजकुमारी के सुख के लिए उसने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया था अन्त में उसी का अस्तित्व न देखकर भुवनमोहिनी को असीम वेदना दुखाने लगी। वह विजयश्रवा के निराश जीवन के

प्रति भी चिन्तित रहने लगी।

एक बार भुवनमोहिनी चाहने लगी कि वह एकान्त में विजयश्रवा से मिलकर अपने हृदय का बोझ हलका कर ले, किन्तु विजयश्रवा के एकान्त वास के कारण उसकी चिन्ताएँ ज्यों की त्यों बनी रहीं।

इन्हीं दिनों वृद्ध भूतपूर्व सम्राट एवं राजमाता अपने पौत्र को साथ लेकर मानसिक अशान्ति से पिण्ड छुड़ाने अनेक तीर्थ स्थानों की ओर चले।

विजयश्रवा के जीवन की सम्पूर्ण माया-ममता शुष्क हो चुकी थी। प्रखर वैराग्य की दीप्ति उसके तेजस्वी मुख से निकल कर आस-पास के वातावरण में छायी रहती थी। वह निर्लिप्त भाव से, शुभा-शुभ का परित्यागी बनकर, अपना नियत कर्म करता जा रहा था। जीवन के मायविक भावों के प्रति उदासीनता, स्वजन-परिजनों के प्रति निर्ममता एवं प्राणाधिक प्रिय के प्रति निर्लिप्तता की त्रिवेणी दुख, पाप एवं परिताप से अन्तःकरण को निर्मल बना रही थी।

"असक्त रनभिष्वङ्गः पुत्र, दार, गृहदिषु" के गीता वाक्य को विजयश्रवा ने जीवन का आदर्श बना लिया था अस्तु वह स्त्री पुत्र एवं गृहादिक के निर्मम पास से अपनी अन्तरात्मा को मुक्त कर चुका था।

हाँ, नियति के अदृश्य हाथों ने जिन क्रूर घटनाओं को उसके जीवन में घटित किया था, उन्हें धैर्यपूर्वक स्वीकार करते हुए भी भुवनमोहिनी के स्मृति की धुँधली छाया से

वह अपना अन्तर्पट सूना न कर सका था। एक प्रकार से भुवनमोहिनी उसके जीवन के ममता की केन्द्र विन्दु बन चुकी थी। कभी-कभी विजयश्रवा उसके कुशल-क्षेम के प्रति चिन्तित हो जाया करता था।

कभी-कभी उसके अन्तरतम से कुछ गहरे एवं निर्मम प्रश्न उठा करते थे। उसकी अन्तरात्मा कहती—"जब तूने निर्मम न्याय के चरणों में अपनी साम्राज्ञी को बलिदान कर दिया, तब भुवनमोहिनी की भी चिन्ता छोड़। अन्ततः भुवन-मोहिनी के श्री-सौन्दर्य के उपभोग करने की लिप्सा ने ही उस बलिदान की पृष्ठ भूमि प्रस्तुत की है, जिस पर चढ़कर चन्द्रहासिनी को जीवन से हाथ धोना पड़ा। यदि विवाहिता पत्नी को पति के सम्पूर्ण प्रेम की आकाँक्षा थी, तो वह पाप न था किन्तु सम्पूर्ण स्नेह-दान न प्राप्त कर सकने की स्थिति में ही चन्द्रहासिनी के हृदय में द्वेष एवं प्रतिहिंसा की भावना जागृत हुई और निरपराध भुवनमोहिनी के सर्वनाश करने के कुचक्र ने ही उसे मृत्यु दण्ड दिलाया ?"

विजयश्रवा अपने विवेक-बुद्धि से अन्तरात्मा को उत्तर देता कि चन्द्रहासिनी अपनी स्वेच्छा से ही—यह जानते हुए कि मैं भुवनमोहिनी के प्रति अपने को पूर्णतः समर्पण कर चुका था—मेरी पत्नी बनने का आग्रह किया। भुवनमोहिनी उदारता पूर्वक उसका स्वागत करती रही और याचना करने पर भुवनमोहिनी ने चन्द्रहासिनी को अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। तब चन्द्रहासिनी को कृतघ्न बनकर भुवनमोहिनी

को विष पान कराने के षड़यंत्र में न तल्लीन होना चाहिए था। ठीक है—मुझे कोई पश्चाताप नहीं—चन्द्रहासिनी ने जैसा किया वैसा ही परिणाम पा लिया।"

एक दिन विजयश्रवा ने भुवनमोहिनी को बुला भेजा। अब वह शारीरिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ्य हो चुकी थी। विजय-श्रवा निरन्तर शून्यता के एक गहन अन्धकार में खोया सा जा रहा था। उसके सारे कर्म यंत्रवत् हुआ करते थे। किन्तु किसी अतीत की घटना ने एक बार उसे सजग बनने के लिए बाध्य किया। जब भुवनमोहिनी विजयश्रवा के समीप पहुँची तो दोनों ने एक दूसरे की दृष्टि में जीवन में घटित होने वाली घटनाओं के परिणाम स्वरूप, एक दूसरे में विशेष परिवर्तन देखा।

जहाँ वे मिलते, वाणी से शब्दोच्चारण के पूर्व उनके नेत्र एक दूसरे से मिलते ही सस्मित हो उठते थे किन्तु आज उनके नेत्रों में मिलन के सुख का उल्लास न था। अन्तर में हृदय के टुकड़े कर देने वाला परिताप एवं पश्चाताप समाया हुआ था। भुवनमोहिनी इसलिए लज्जित थी कि यदि वह विजय-श्रवा के जीवन में माया-ममता बनकर न समायी हुई होती तो क्या आज विजयश्रवा चन्द्रहासिनी को इतना कठोर दण्ड देता और विजयश्रवा इसलिए कुण्ठित था कि चन्द्रहासिनी यदि वह न स्वीकार करता तो संभवतः यह अघटित घटना न घटी होती।

दोनों अपने आप में खोये हुए एक दूसरे के सम्मुख अप-

रिचित जैसे खड़े रहे। कुछ क्षणों के पश्चात् भुवनमोहिनी ने अति क्षीण स्वर में उस शून्यता को भंग किया।

—देव के चरणों में दासी का शतशः अभिवादन स्वीकार हो—कहते हुए भुवनमोहिनी ने विजयश्रवा के चरणों में अपना मस्तक झुका दिया।

विजयश्रवा ने आदरपूर्वक भुवनमोहिनी को अपने चरणों से उठा लिया किन्तु वाणी से वह कुछ कह न सका। उसके नेत्र कोरों में अश्रु-विन्दु छलछला आये।

भुवनमोहिनी ने देखा कि प्रस्तर हृदय वाला भारत सम्राट आज अपनी करुणा से स्वयं विगलित है।

—यह क्या ? देव के नेत्रों में करुणा की धारा कैसी ?

—क्या कहूँ, भुवनमोहिनी ! मैं सम्राट होकर भी आज दीन-हीन बन गया हूँ। इस अभिशापित जीवन का अन्त हो; यही कामना है।

भुवनमोहिनी विजयश्रवा की उदासीनता एवं मनस्ताप से मर्राहत सी हो उठी। विजयश्रवा बोला—मैंने अपने आप अपना सर्वनाश कर डाला है। मैं यदि सम्राट न होता तो शायद इतनी क्रूरता मेरे जीवन में न समायी होती। आज मैंने अपने इकलौते पुत्र को मातृत्व के सुख से वंचित कर दिया—माता-पिता ने अपनी सेवकिनी पुत्र-वधू को खोया। मुझे क्या मिला ? हत्यारेपन का पाप ! आज चन्द्रहासिनी मेरी अन्तर्दृष्टि के अथ से इति तक समायी हुई मानो नेत्रों में आँसू

भरे दया की भीख माँगती दिखाई पड़ती है और मेरे सामने भीषण रक्त सागर उद्वेलित होता दिखाई पड़ता है। महाराज आदित्यसेन की प्रतिच्छाया मानो भीषण प्रतिकार के लिए उद्विग्न है। वे अपनी प्राणोपम एक मात्र सन्तान के सर्वनाश का बदला चाहते हैं। बड़े-बड़े सामन्तों की नंगी तलवारें मानों चन्द्रहासिनी के मृत्यु का पाप-प्रक्षालन करने के लिए चण्डी की जिह्वा बनकर मेरी सेना तथा स्वयं मेरे शरीर का रक्त दान माँग रही हैं। मेरी न्याय-प्रियता का भयानक परिणाम प्रतिशोध की रक्त वैतरिणी है जिसमें मेरे सहित साम्राज्य की सेना को निमग्न होना होगा।

विजयश्रवा शून्य दृष्टि से आकाश को देखने लगा। भुवनमोहिनी चन्द्राहासिनी के सर्वनाश का परिणाम समझ गयी। उसने अति उद्विग्न एवं दीन-स्वर में पूछा—"देव! क्या महाराज आदित्यसेन भारत-सम्राट से युद्ध चाहते हैं?"

—अवश्य, भुवनमोहिनी! मुझे सूचना प्राप्त हो चुकी है कि वे बड़ी तत्परता के साथ भयानक युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। मुझे उनकी सेना की जितनी परवाह नहीं है, उससे कहीं अधिक भय है कि बारम्बार पराजित हूण जाति आपसी वैमनस्य का लाभ उठा कर सारे देश पर अधिकार करने का प्रयास करेगी। जिसका संभव परिणाम राष्ट्र की स्वतंत्रता का अपहरण होगा और भारतीय राष्ट्र शताब्दियों एवं सहस्त्रब्दियों तक पराजय एवं दासत्व के कलंक का टीका लगाकर विदेशी आक्रामक शक्तियों के चंगुल में फँस जाएगा।

—सम्राट ! क्या राजकुमारी को दण्ड देने के पूर्व इन सम्भव परिणामों की ओर आपने नहीं विचार किया था ?

—सब कुछ किया था किन्तु मैं नहीं चाहता था कि भारतीय राष्ट्र की साम्राज्ञी इतना निन्द्य एवं गर्हित कर्म करे और विशेष कर उसके साथ जिसकी रक्षा का अभेद्य कवच बनकर मैं स्वयं खड़ा था।

चिन्तित मुद्रा में भुवनमोहिनी ने पूछा—"पूज्य सम्राट ! क्या यह युद्ध टाला नहीं जा सकता ?

—टाला जा सकता है ?

—कैसे ?

—भुवनमोहिनी के कटे हुए शीश को भेजकर।

—मैं सहर्ष अपना शीश देने को तत्पर हूँ।

—इसका अर्थ है कि मैं भी जीवन से हाथ धो लूँ। भुवनमोहिनी क्षण भर के लिए स्तब्ध रह गयी किंतु दूसरे ही क्षण वह निवेदन करती हुई बोली—"सम्राट ! यदि देश दासत्व की शृंखला से जकड़ा गया तो भावी सन्तान अपने पूर्व-पुरुषों पर हँसेगी। इतिहास के पन्ने साक्षी होंगे उस अधः पतन के जिसको आज हम लोग बनाने जा रहे हैं। सम्राट ! क्या भविष्य में भारतीय सन्तान अपने अतीत काल के सम्राटों के नाम पर घृणा एवं तिरस्कार की वर्षा न करेंगे ? जब वे इतिहास के पृष्ठों में अतीत के संस्मरणों पर एक दृष्टि डालेंगे तो उन्हें विलासी सम्राटों की काली कारतूतों के प्रति घोर

विरक्ति होगी । भावी संतान कहेगी कि इन्द्रिय लोलुप शासकों ने सुरा एवं सुन्दरी की उपासना में भारतीय वीरता को कलंकित किया है। इससे तो कहीं अच्छा है कि आज का सम्राट अनासक्त भाव से अपना कर्त्तव्य कर्म करे। जो सम्राट अपनी साम्राज्ञी को भयानक दण्ड दे सकता है, वह राष्ट्र में एक नर्तकी के मोह में पड़कर निरपराध प्राणियों की हत्या द्वारा रक्त बैतरिणी में क्यों निमग्न होना चाहता है । मैं निवेदन करती हूँ कि युद्ध के आमंत्रण स्वीकार करने से कहीं अधिक श्रेयस्कर यह है कि महाराज आदित्यसेन को सूचना भेज दी जाय कि शीघ्र ही उनकी सेवा में भुवनमोहिनी का शीश भेजा जावेगा।

विजयश्रवा आश्चर्य-अवाक् होकर भुवनमोहिनी को देखने लगा। ऐसा ज्ञात हुआ कि जैसे इस कठोर कर्म की कल्पना से उसके हृदय की गति रुक जायगी और स्वयं विजयश्रवा जीवित न रह सकेगा। उस अवस्था में हूण-आक्रामक बड़ी सरलता से भारत की भूमि पर अपना अधिकार स्थापित कर सकेंगे।

भुवनमोहिनी सम्राट के मुख के भावों को देखते ही विजयश्रवा के हृदय की बात ताड़ गयी। उसने कहा—"छिः सम्राट ! एक गलित एवं पतित नर्तकी के जीवन का मोह आपको कर्त्तव्य-कर्म से च्युत करता जा रहा है। किंतु सत्य यही है कि एक सम्राट की दृष्टि में समस्त शासित प्रजा एक समान है। फिर यदि मेरे तुच्छ शरीर का मोह राष्ट्र के सर्वनाश का कारण बना तब तो आपके पवित्र एवं राष्ट्राभिमानी चरित्र पर कलङ्क का टीका लग जायगा। एक ओर धर्म पत्नी का

का न्याय के नाम पर क्रूरता पूर्वक विनाश और दूसरी ओर एक नर्तकी की आसक्ति के कारण राष्ट्र का सर्वनाश।

भुवनमोहिनी विजयश्रवा के चरणों पर गिर पड़ी और बोली—"प्रियतम! मैं इस जीवन में तुम्हारी बनकर भी अपने अपवित्र जीवन के कारण तुम्हें स्पर्श करने तक से हिचकती हूँ। मेरी शून्य छाया तुम्हारे उदास जीवन एवं चरित्र के लिए महान् कलङ्क है। किंतु यदि जनता के सामने अपनी तलवार से मेरा शीश काट कर महाराज आदित्यसेन के समीप भेजवा सकें तो इससे अधिक निश्छल चरित्र इतिहास के पन्नों में ढूँढने पर भी मिल सकेगा, मुझे सन्देह है।

—इसका अर्थ है कि मैं अपना हृदय-पिण्ड उखाड़ कर फेंक दूँ! अपने जीवन की अकेली वासना—जिसके सहारे मैं आज तक जीता रहा हूँ—आज कुचल कर—देहाभिमान एवं आसक्ति से विरक्त हो जाऊँ और अपने हाथों अपनी मृत्यु की आज्ञा प्रदान करूँ। जिन आशाओं के तिनके चुनकर मैंने अपने प्राण पखेरू के बसने के लिये स्नेह का नीड़ बसाया था, उसे न्याय की निष्ठुर दीप-शिखा द्वारा झुलसा दूँ—भस्म कर दूँ।

कुछ साहस बटोर कर अविचल भाव से भुवनमोहिनी बोली—"सम्राट! यदि मेरे सर्वनाश से राष्ट्र व्यापी महासमर की अग्नि प्रज्वलित होने के पूर्व ही बुझायी जा सकती हो, तो भुवनमोहिनी का शीश धड़ से विलग होने को प्रस्तुत है। महाराज आदित्यसेन की तुष्टि के लिए—आपको मेरी मृत्यु का आदेश देना ही होगा।

—और इसके साथ ही मुझे अपने जलने के लिए अपनी चिता को अपने हाथों प्रज्वलित रखना होगा।

विजयश्रवा ने घोर आसक्ति पूर्ण दृष्टि से भुवनमोहिनी को देखा। उसके हृदय में निराशा एवं अतृप्ति की भीषण आग धधक उठी थी। उसने आह भर कर कहा—"प्रिये ! विधि-विधान के क्रूर निर्णय को स्वीकार करने से पूर्व एक बार जीवन की महान् अतृप्ति की तुष्टि के लिए मृग-जल का सहारा ही मिलता। क्या संभव है ऐसा ?

—किन्तु सम्राट के जीवन की महत्ता धूल में मिल जायगी इसलिए यदि जन्मांतर सत्य है, यदि वासना का अस्तित्व जीव को पुनर्जन्म लेने के लिए वाध्य करता है तो इस जीवन में नहीं, सम्राट ! फिर कभी हमारा मिलन तो होगा ही, तभी जन्म-जन्मांतर के वासना की तुष्टि के क्षण समुपस्थित होंगे और मिलन की आशा की शुभ घड़ियाँ ही अंतिम मुक्ति की वरदायिनी घड़ी होगी।

—ठीक है, भुवनमोहिनी ! यदि आज मैं सम्राट न होता ! आह ! इस महत्ता ने मुझे साधारण मनुष्य के जीवन से भी वञ्चित कर दिया। जीवन के प्रत्येक क्षण अभिशापित उत्तप्त एवं प्रिय के अभाव में बीत गये।

भुवनमोहिनी ने देखा कि विजयश्रवा आसन्त मृत्यु की कल्पना से पीला पड़ गया किंतु क्षीण स्वर में बोला—"सम्राट बन कर भी अपनी आकांक्षाओं को तुष्टि के जल से शीतल

न कर सका और मिलन की छलना ने चिर-वियोग को सम्मुख लाकर खड़ा कर दिया है।"

दोनों प्राणियों के जीवन में कैसी भयानक निराशा छाई हुई थी, किंतु वे अपने महान् दायित्वों के प्रति प्रत्येक क्षण सजग थे।

विजयश्रवा बोला—"अच्छा प्रिये! हमने जाने-अनजाने जिस वृक्ष को पाला-पोसा था, स्नेह का जल पिला कर जिस तरह उसे पल्लवित एवं कुसुमित किया था, उसी प्रकार उसके फल प्राप्त करने के पूर्व ही, उसे जड़ से काट कर नष्ट कर देने का पवित्र कर्त्तव्य भी आकर उपस्थित है; अब मैं वही करूँगा जो तुम्हें स्वीकार है। तुम मुझे सम्राट बना कर साधारण मनुष्य नहीं बनने देना चाहतीं, भले ही उभय प्राणियों का जीवन मृत्यु की नीरव गोद में धाराशायी हो जावे।

एक महान् सङ्कल्प की दीप्तिमयी आभा उन दोनों के म्लान-मुख पर बिजली सी कौंध कर पुनः अदृश्य हो गयी। विजयश्रवा ने कहा—"अच्छा विदा!" प्रिये! हम दोनों एक एक बन कर भी ग्यारह सदृश न हो सके। विधि-विडम्बना के नाम पर पश्चाताप के सिवा और मिला क्या? आज उस मोहमयी मदिरा की खुमारी का अन्तिम क्षण महान जागरण का सन्देश लेकर आया है। स्वागत है उस क्षण का! हम दोनों जीवन भर एक दूसरे के हृदय के सन्निकट रह कर भी एक दूसरे के न हो पाये। अब हम दूसरे के अंत का कारण बनकर–शरीर से नहीं–दुनिया की दृष्टि से ओझल होकर,

महान मिलन सागर में विलीन हो जावेंगे ।

दोनों के नेत्र-कोरों से आँसू झाँकने लगे । विजयश्रवा ने अनुभव किया—जैसे उसके जीवन लीला के पटाक्षेप का अंतिम क्षण उपस्थित हो चुका है ।

उसने जीवन भर की अतृप्ति को एक चुम्बन में मानो पी डाला । हृदयालिङ्गन करके भुवनमोहिनी को मुक्त करते हुए बोला—"जाओ मेरे जीवन के स्नेह की प्रतिमा ! आज तक मैं तुम्हारे रक्षक होने का अभिमान हृदय में भरता आया था, किन्तु यह क्षण स्नेह के अंतिम मिलन का अंतिम क्षण है । अब तुम्हारा रक्षक विजयश्रवा तुम्हारे जीवन भक्षक के रूप में तुम्हारे सामने उपस्थित होगा ।"

दोनों के नेत्रों से अश्रु-सरिता प्रवाहित हो चली । भुवन-मोहिनी विजयश्रवा के चरणों में झुकी, उन्हें अन्तिम नमस्कार किया, उन युगुल चरणों को—जिन्हें वह आज तक अन्तर के गोपनीय तल में छिपा कर पूजा करती आई थी—आज मुक्त रूप से स्नेह-सलिल की अश्रुधारा से—अभिसिञ्चन किया—जैसे आज जीवन भर के प्रेम-व्यवहार का वह अमूल्य पुरस्कार एवं सौगात प्राप्त कर रही हो और अभिलाषाओं के सञ्चित नीड़ में सर्वनाश का जल—प्लावन करने चली हो ।

वाणी मौन थी फिर भी वह टूटती, कँपती, दम तोड़ती हुई भावना से बोली—"प्रियतम ! जीवन भर के सञ्चित अप-राधों के क्षमा याचना का यह क्षण मूल्यवान् है ! इस पाप सन्ताप मय जीवन को मैं स्वयं जीवित रखने में असमर्थ हो

चुकी थी, इसलिए मेरे शीश को अपनी तलवार के झटके से काटना ।"

भुवनमोहिनी ने ज्यों ही विजयश्रवा के चरणों का अन्तिम स्पर्श करके ऊपर की ओर अपने को उठाया, उसके अञ्चल में विजयश्रवा के अश्रु-पुष्प झड़ने लगे ।

—मैंने सब कुछ पा लिया प्रियतम ! प्यार का प्रतिदान ! आह ! विदा !

वह मुड़ कर लौट चली ।

भर्राई वाणी में विजयश्रवा बोला—"ठहरो, प्रिये ! जानती हो ! वीर की तलवार एक नारी की गर्दन में शोभा नहीं देगी ! दूसरे नारी-हत्या जघन्य अपराध है ।

—सब कुछ है, देव ! किन्तु अभी अन्तिम लालसा फिर भी जीवन के साथ जा रही है । मैं चाहती थी कि पाप-पुण्य के द्वन्द्व से उठ कर प्रियतम की तलवार मेरी गर्दन पर चलती और मेरा अपवित्र जीवन अपने लाल लहू से तुम्हारे चरणों को अभिसिञ्चित कर अपना शीश उन्हीं पूज्य चरणों में समर्पित कर देती ! अब अन्तिम बार मुझे निराश न करना, मेरे देवता !

वाणी अवरुद्ध हो गई । भुवनमोहिनी लौट चली । जब वह अपने वैभवपूर्ण प्रासाद की ओर जा रही थी, तब विजय-श्रवा की वरदानमयी वाणी उसके कानों में गूँज रही थी—

—"अच्छा, प्रिये ! तुम्हारे अन्तिम आग्रह को पूर्ण करूँगा ।"

जब भुवनमोहिनी चली गई तब भारत का राज राजेश्वर एक दीन-हीन अनाथ बालक की भाँति अपने एकांत में जी भर कर रोया—घण्टों रोया—आँखें सूज गईं—आँसू सूख गये। वह शून्य-शुष्क जीवन लेकर कर्तव्य-कर्म की पूर्ति के लिए अपने राजकीय आदेश-भवन में जा पहुँचा।

उसने मंत्री गण को बुलाया और स्वयं राजकीय सिंहासन पर बैठ कर दो अधिकार पत्र लिखवाये। प्रथम उत्तराधिकार पत्र था जिसके अनुसार उसका पंचवर्षीय राजकुमार अखिल भारत का सम्राट होने जा रहा था और द्वितीय पत्र था महाराज आदित्यसेन के लिए, जिसमें उनके प्रतिशोध पूर्ण भावना की पूर्ति का अंतिम आश्वासन—भुवनमोहिनी के शीश भेजने का समाचार था।

मंत्रीगण इस कठोर-शुष्क एवं कर्तव्य परायण विक्षिप्त सम्राट के मुख की ओर अपार करुणा एवं दया की दृष्टि से देख रहे थे।

विजयश्रवा ने महा आमात्य को आदेश दिया कि कल प्रभात काल के पश्चात् एक जनसाधारण एवं सामूहिक जनता की सभा का आयोजन किया जाय जिसमें महाराज आदित्यसेन के वैर-विग्रह पूर्ण पत्र के आधार पर धारा नगरी के सम्राट की ओर से दोनों राज-परिवारों के बीच स्नेह-सम्बन्ध स्थापित रखने के लिए प्रतिनिधि मण्डल भेजा जायगा और महाराज आदित्यसेन की आंतरिक तुष्टि के लिए भुवनमोहिनी का रक्त से लथपथ शीश।

समस्त मंत्रीगण आश्चर्य अवाक थे किंतु उनमें सम्राट की इच्छा के विपरीत बोलने की शक्ति न थी और वे सम्राट के मन्तव्य को भली भांति समझते थे कि सामूहिक हिंसा से राष्ट्र का उद्धार करने का सहज मार्ग यही है कि महाराज आदित्यसेन की प्रतिशोधमयी भावना का दमन किया जाय क्योंकि सामूहिक हित के समक्ष व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। सर्वदा व्यष्टि का बलिदान समष्टि की कल्याणमयी भावना से प्रेरित रहा है।

विजयश्रवा उक्त दोनों पत्र लिखवाने के पश्चात् राज-सिंहासन से नीचे उतरा। उसे जीवित प्राण की तरह श्रद्धा, समान एवं गौरव पूर्ण दृष्टि से देख कर बोला—"आज तक मैंने गद्दी की सेवा निश्छल एवं न्यायपूर्ण हृदय से की है किंतु अब मेरा मनुष्यत्व मुझसे विदा ले रहा है और उसके स्थान पर एक ऐसी निष्क्रियता प्रवेश कर रही है जो श्वासों के बजते हुए तार को किसी क्षण निश्चेष्ट कर देगी।"

एक बार विजयश्रवा ने पुनः स्नेह, श्रद्धा, सम्मान की भावना से उस राज सिंहासन को दृष्टिपात एवं नमस्कार किया जिसके प्रति परम्परागत उसके पूर्वज सच्चे, कर्तव्य निष्ठ एवं व्रती रहे थे। विजयश्रवा ने भी उसी परम्परा को स्थापित रक्खा।

तत्पश्चात् मंत्रियों के अभिवादन को स्वीकार करते हुए वह अपने शून्य राज-प्रासाद में जा पहुँचा। विजयश्रवा निश्-चेष्ट एवं शून्य रह कर किसी प्रकार उस यामिनी को बिता पाया।

दूसरे दिन

एक विशाल प्राङ्गण में राज्याधिकारी वर्ग एवं नागरिक जनता एकत्रित हुई। निश्चित् समय पर मंत्रीगण, भुवनमोहिनी एव सम्राट यथा स्थान आकर आसीन हुए।

महा आमात्य ने महाराज आदित्यसेन के उस शत्रुता पूर्ण पत्र का विश्लेषण करते हुए बतलाया कि हिंसक युद्ध को टालने का एक मात्र हल है—"भुवनमोहिनी का शीश काट कर महाराज आदित्यसेन के समीप भेजना।"

अन्त में उन्होंने सम्राट के निर्णय को सार्वजनिक रूप से प्रकाशित करते हुए बतलाया कि भुवनमोहिनी स्वयं स्वेच्छा से राष्ट्र पर पड़ने वाली विपत्ति को दूर करने में सचेष्ट है और वह स्वेच्छा से आत्म-बलिदान करने को तत्पर है।

भुवनमोहिनी की पिछली सेवाओं पर प्रकाश डालते हुए स्वयं सम्राट विजयश्रवा ने बतलाया कि भुवनमोहिनी का संपूर्ण जीवन राष्ट्रीय सेवा में व्यतीत हुआ है और आज भी वह स्वेच्छा से ही आत्मोत्सर्ग करने पर संनद्ध है।

सारी राजसभा में उपस्थित जनता एवं अधिकारी वर्ग ने भुवनमोहिनी के जीवन का अन्त करने वाले भयानक आत्मोत्सर्ग के करुण दृश्य को अपनी आँखों देखने से हिचकिचाहट प्रदर्शित की किन्तु पाषाण हृदय सम्राट विजयश्रवा अपने हाथ में तलवार लेकर भुवनमोहिनी के सम्मुख जा खड़ा हुआ।

उस करुण दृश्य ने आँसुओं के सागर को उद्वेलित कर दिया किंतु राज्यसभा में मृत्यु की सी शान्ति विराज रही थी।

गम्भीर स्वर में सम्राट ने कहा—"भुवनमोहिनी ! आज तुम्हें अपना जीवन–दान करते समय मोह-ममत्व तो नहीं आक्रान्त कर रहा ?

—नहीं सम्राट ! मुझे गर्व है कि मेरे रक्त का प्रत्येक बिन्दु हिंसा के अपार रक्त सागर को रोक रखने में समर्थ हो सका है।

—तुम अपना शीश-दान क्यों कर रही हो !

—इसलिए, पूज्य सम्राट ! कि राष्ट्र के निरपराध प्राणियों की हत्या से राष्ट्र की भूमि कलंकित न की जाय ।
—तो एक बार स्मरण करो उस जगन्नियन्ता को, जिसने तुम्हें आत्म बलिदान की पवित्र भावना से भर दिया है।

भुवनमोहिनी ने एक क्षण के लिए उस सर्वशक्तिमान को नमस्कार किया और सम्राट को सम्बोधन करते हुए बोली—पूज्य सम्राट ! मेरे जीवन के समस्त अपराधों को क्षमा करें और अपनी तीक्ष्ण तलवार द्वारा मेरा पतित शीश काटकर मुझे गौरवपूर्ण मृत्यु स्वीकार करने का सम्बल प्रदान करें।

भुवनमोहिनी ने अपना शीश विजयश्रवा के सामने झुका दिया। विजयश्रवा ने एक बार शुष्क, निराश, एवं अतिहृष्टि से आकाश की ओर देखा, मानो वह ईश्वर से अपना पवित्र कर्तव्य करने की प्रेरणा ले रहा था किन्तु मोह-ममत्व से जकड़ा हुआ मानवीय हृदय खिन्न होकर मन-ही-मन सङ्कल्प-विकल्प की अनेक भावनाओं में तरङ्गित हो रहा था। विजय-श्रवा ने जीवन भर जिस शरीर को अपने हृदय से प्यार

किया था आज उसके विनाश करने का कठोर दायित्व भी उसे निभाना था ।

सम्राट ने कड़क कर कहा—सावधान !

भुवनमोहिनी पाषाण प्रतिमा सी निश्चेष्ट बनकर उसके सामने गर्दन झुकाये खड़ी रही ।

क्षण भर में विजयश्रवा की तलवार चमक उठी और दूसरे ही क्षण विजयश्रवा के चरणों में भुवनमोहिनी का तड़-पता हुआ शीश दिखाई पड़ा ।

सारी राजसभा मौन रुदन के व्यापार में निमग्न हो गयी ।

विजयश्रवा ने पूर्व निश्चित सैनिकों को आदेश दिया कि वे इसी क्षण भुवनमोहिनी का मुण्ड-रुण्ड लेकर महाराज आदित्यसेन की सेवा में जा उपस्थित हों ।

सारी राजसभा अन्तिम बार भुवनमोहिनी के आत्मो-त्सर्ग से प्रभावित होकर उसके शव-शरीर को ले जाने के समय उठकर खड़ी हो गयी और अपना हार्दिक सम्मान प्रकट किया साथ ही कुछ क्षणों तक ईश्वर से मृतात्मा को शान्ति प्रदान करने की प्रार्थना करती रही ।

जब उसका शव-शरीर इन्द्रप्रस्थ के लिए भेजा जाने लगा, तब विजयश्रवा ने राजकीय ढंग से सम्मान प्रदर्शित किया । उसने नेत्रों से दो आँसू ढुलका दिये और वह निर्जीव, शून्य, भावनाविहीन प्राणी की भाँति बिना किसी से कुछ

कहे—जीवन के समग्र व्यापारों के प्रति अचेतन बनकर अपने विश्राम भवन में जा पहुँचा। सारी राज सभा के एक-एक सदस्य भरे हुए मन लेकर, मूक रुदन करते हुए अपने-अपने घर चले गये।

विजयश्रवा नीरव निष्प्राण एवं स्पन्दनहीन जीवन लेकर अपने विश्राम कक्ष में जा पड़ा। आज उसकी प्रियतमा नश्वर जीवन से सदा के लिए विदा ले चुकी थी। विजय-श्रवा को भान हो रहा था जैसे उसके जीने की अब कोई आवश्यकता नहीं रही। एक मानव सम्राट बनकर—कर्तव्य के लिए उसे जिस प्रकार निर्मम बनना पड़ा था, उस निर्म-मता ने ही मानो उसका मनुष्यत्व सर्वदा के लिए छीन लिया था। संज्ञा शून्य, भावना विहीन एवं नीरस जीवन लेकर वह करता ही क्या ? उसकी अटकी हुई ममता के धागे उसी क्षण टूट चुके थे, जिस क्षण विजयश्रवा की तलवार भुवन-मोहिनी की गर्दन पर उठी थी।

जीवित भुवनमोहिनी की आवश्यकता जीवित विजयश्रवा के लिए थी—जब भुवनमोहिनी न रही तब विजयश्रवा ही क्यों जीवित रहे ? उसके प्राण पखेरू भुवनमोहिनी को खोकर पंख-विहीन पक्षी की भाँति छटपटा रहे थे। वह उस निर्जीव चित्र को अपलक दृष्टि से देखता हुआ इस प्रकार स्पन्दन हीन होता जा रहा था मानो भुवनमोहिनी के अचंचल चित्र की भाँति वह भी चैतन्य मांस का लोथड़ा एवं पिन्ड न होकर अचेतन मृत्तिका का निर्मित किया हुआ मानव-शरीर हो।

जितनी ही उसकी दृष्टि भुवनमोहिनी के उस चित्र पर अटकी पड़ती थी, उतना ही विजयश्रवा का देहाभिमान एवं स्थिर चैतन्य तत्व निष्प्राण होता जा रहा था। पीड़ा एवं मनस्ताप उस सीमा तक बढ़ चुका था, जहाँ चेतन अचेतन में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

विजयश्रवा पथराये नेत्रों से आकाश की ओर देख रहे थे और उनका शरीर धीरे-धीरे ठंडा पड़ता जा रहा था।

उनके पथराये नेत्रों में भुवनमोहिनी की साकार प्रतिमा विराज रही थी।